सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सैंथाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	यथाग्नि योगिना विश्वते हरः	....	१
२.	योग एवं जन्मान्तरवाद (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३.	हमारे उपास्य एवम् योग-दर्शन	श्री आशुतोष एम० ए०	६
४.	श्री रुद्राष्टक स्तोत्र (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	१२
५.	गुरु की सेवा से ब्रह्मज्ञान	श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह	१४
६.	संस्कृत भाषा एवं संस्कृति का स्वरूप	श्री हरिप्रसाद उपाध्याय	१८
७.	श्री प्रभु रामनाम-चरितामृत (कविता)	श्री गिरधर शर्मा	२१
८.	योग-साधन में आने वाले विघ्न	आयुर्वेद बृहस्पति वैद्यराज श्री शिवकुमार शास्त्री	२५
९.	भक्ति-योग	आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	२६
१०.	योग से ही कैवल्य लाभ	श्री रामकुमार उपाध्याय	२७
११.	साधना में श्रद्धा	श्री जगदीशनारायण शर्मा	४४
१२.	आसक्ति	स्व० श्री हृषीकेश चतुर्वेदी	४६
१३.	पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम्	संकलित	४८
१४	दुःख से बचना है तो अनासक्त भी बनो	टाइटिल	३

संयुक्त सम्पादक

दिव्य

फोन ६६१६८

वार्षिक मूल्य १५.००, एक प्रति १.५० पैसे मात्र

वर्ष १०
अङ्क ३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविषयान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

जून
१९७७

सद्मनि योगिनां विजयते हरः

चूडोत्तंसित चारु चन्द्र कलिका चञ्चच्छिखाभास्वरो,
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तः स्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्,
सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥

अर्थात्

शिरोभूषणीभूत चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशमान, कामदेव रूपी पतिंगों को लीला से ही जलाने वाले, कल्याण करने वालों में अग्रगण्य भक्तों के अन्तःकरण में स्थित मोहरूपी अन्धेरे को नाश करने वाले, ज्ञान के प्रकाश भगवान शङ्कर योगियों के हृदय में रहा करते हैं ।

हमारा विशेष लेख—

योग एवं ऊर्ध्वरेतसता

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे भारतवर्ष के इतिहास में ब्रह्मचर्य आश्रम का बहुत बड़ा उत्कृष्ट वर्णन मिलता है। ब्रह्मचारी किसको कहते हैं? इस विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं, किन्तु पाणिनि व्याकरण के अनुसार—'ब्रह्मणि चरितम् शीलमस्यास्ति य स ब्रह्मचारी' अर्थात् परमात्मा में विचरने की जिसकी आदत पड़ गई है वह ब्रह्मचारी कहलाता है, किन्तु ब्रह्म में विचरने का स्वभाव हर व्यक्ति का नहीं हो सकता। ब्रह्म में विचरण वही कर सकता है जिसके मन व बुद्धि सूक्ष्म पदार्थ को ग्रहण करने वाली योग्यता वाले बन गये हों। ऐसी मन व बुद्धि तभी बन सकती है, जब वीर्य धारण करने से उपयुक्त साधन करते हुए ऊर्ध्वरेतसता प्राप्त हो गई हो। षट चक्रों के अन्दर मणिपूरक नाभि का एक चक्र है। मणिपूरक चक्र का स्थान नाभि मण्डल है, नाभि-मण्डल ही वीर्याशय यानी वीर्य का स्थान है। मनुष्य के मन में जब किसी प्रकार की काम-वासना का उदय होता है तो कामाग्नि की उष्णता से वीर्य सारे शरीरसे आकर्षित होकर स्खलन की ओर जाता है। आयुर्वेद के परमाचार्य श्री वाग्भट्ट जी ने वीर्य को वपुसार, जीवनाश्रय, गर्भ बीज आदि नामों से उद्घोषित किया है।

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं,
बलं पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो,
जीवनाश्रय उत्तमः॥

अतः इसका सारे शरीर में व्यापक रहना जीवनधारियों के लिए बहुत ही आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का व्यायाम नहीं करते हैं और केवल अकर्मण्य बनकर रहा करते हैं, खट्टे मीठे पदार्थ खाते रहते हैं, उनके मन में काम-वासना बढ़ती रहा करती है। खाली बैठा रहने से मन में कुभावनायें आती हैं और शनैः शनैः कुकर्म चेष्टायें बनने लगती हैं, जिससे मनुष्य उन्नति के लिए प्राप्त हुए अपने पवित्र जीवन को पतन की ओर ले जाने का कारण बन जाता है। इसलिये वीर्य को ऊर्ध्वरेतस बनाने से पहले साधक को

ऐसा प्रयत्न कर लेना चाहिए कि यथुसार जीवनाश्रय वीर्य को सारे शरीर में व्यापक कर डाले। वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य व्यायाम की आदत डाले। व्यायाम करने के जितने प्रकार आजकल भारत व दूसरे देशों में व्यापक हैं, वे सब मनुष्यकृत होने के नाते अधिक लाभदायक नहीं हो पाते। ऐसे सभी व्यायाम शारीरिक जड़ता के दाता हैं। यह वीर्यको शरीरमें व्यापक तो बनाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव समान रूप से सभी अंगों पर बराबर नहीं पड़ता। स्नायु कहीं कहीं तो बहुत ही दृढ़ हो जाते हैं जिससे सारे शरीर में रस व रक्त का समान रूप से वहन नहीं हो पाता। जो व्यायाम हमारे पूर्वज योगाचार्यों ने अपने ग्रंथमें लिखे हैं, वे सभी उनके ऋतंभरा प्रज्ञा की उत्तम देन है और यह सभी व्यायाम स्नायु मण्डल को कोमल रस और रक्त का ठीक तरह से वहन करने वाले एवं मन की एकाग्रता के दाता है। अतः शरीर को रोग रहित हल्का, फुर्तीला, ओज-तेज, प्रधान एवं वीर्य को शरीर में व्यापक बनाने के लिए उत्तमोत्तम हैं। जो लोग किसी भी योग-शिक्षण केन्द्र में जाकर नियमानुवर्तिता से योगासनों का अभ्यास करते हैं, उनका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कामोद्दीपक भावनायें स्वतः ही शान्त होने लगती हैं। मन आत्म-चिन्तन की ओर बढ़ने लगता है। योगासनों का व्यायाम सभी प्रकार से उत्तम है, किन्तु वीर्य को शरीर में व्यापक बनाये रखने के लिए उदर सम्बन्धी आसनों का अभ्यास बहुत ही आवश्यक हो जाता है। जैसे उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, नावआसन, नाभ्यासन, धनुरासन, शलभासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आदि। ये सभी आसन पेट से सम्बन्ध रखने वाले हैं। योग-शिक्षण केन्द्रों में नियमानुसार सभी आसन कराये जाते हैं। पहले अभ्यासी लोग खड़े होने के आसन करते हैं उसके बाद बैठनेलेटनेके आदि आदि। जैसा भी क्रम यहां समझाया हुआ होता है वैसा ही करते हैं।

उपरोक्त विधि के अनुसार वीर्य शरीर में व्यापक तो हो ही जायेगा, किन्तु ऊर्ध्वरेतसता प्राप्त करने के लिए कुछ खास खास अभ्यास हैं जिनका दिग्दर्शन इस लेख में हम नीचे की पंक्तियों में कर रहे हैं।

हमारे योगाचार्यों ने 'सिद्धासन' को सर्व-सिद्धियों का दाता बतलाया है। 'सिद्धासन' की एक विशेषता यह है कि उसके करने से मनुष्य स्वाभाविक ही संयतेन्द्रिय बन जाता है क्योंकि सिद्धासन के लगाने से वीर्यवाहिनी नाड़ी संकुचित हो जाती है और उन नाड़ियों के दब जाने से वीर्य का अधोवेग रुक कर ऊर्ध्ववेग बन जाता है। 'सिद्धासन का' प्रकार योगाचार्य भगवान सदाशिव ने शिवसंहिता में इस प्रकार बतलाया है :

योनिं संपीड्य यत्नेन,
पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरि पादमूलं,
विन्यसेत योगवित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं,
निश्चलः संयतेन्द्रियः ।
विशेषोऽवक्रकायश्च,
रहस्युद्वेगवर्जितः ॥
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं,
सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥

अर्थात् अपने बायें पैर की एड़ी को अण्डकोषों के नीचे योनि-स्थान में (जिसको सीवनी कहते हैं) ले जाकर दृढ़ता के साथ जमा दो। पीछे गुदा-द्वार के नीचे कोई कपड़ा या कपड़े की साधारण सी गद्दी रख दो जिससे लिंग-नालको दबाने में वह गद्दी सहायक हो जाय। इस प्रकार बायें पैर की एड़ी को योनि-स्थान में दृढ़ता से जमाकर दूसरे दाहिने पैर की एड़ी को लिंगनाल के ऊपर जमाकर रखो। दोनों पैरों के टखने परस्पर मिले हुए हों। एक पैर लिंगेन्द्रिय के नीचे योनि-स्थान में हो और दूसरा लिंगेन्द्रिय के ऊपर जमा हुआ हो। इस विधि से नीचे बैठ जाओ। अपने मेरुदण्ड को सीधा रखो। दोनों हाथों को तनाव के साथ घुटनों पर रखो एवं दृष्टि को भ्रूमध्य ले जाओ, थोड़ी सी झुकी हुई हो। मन में कोई भी उद्वेग न हो। इसको योगाचार्यों ने सिद्धासन कहा है। केवल मात्र जो लोग सिद्धासन का अभ्यास करते रहते हैं उनके भी मनोविकार शांत हो जाते हैं और वीर्यकी अधोगति रुक करके वेग ऊपरकी ओर बढ़ने लगता है इसके साथ एक विशेष प्राणायाम करो। इस प्रकार बैठ जाने के बाद अपने प्राणवायु को वेग के साथ बाहर निकाल दो। उड्डियान बंध के साथ आधार चक्र को ऊपर की ओर खींचो और प्राणवायु को रोक दो। आधार-चक्र खींचे रहो। अपने मन में धारणा करो कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर खींच रहा हूँ। अनुभवी सन्तों ने इस प्राणायाम में लिंगेन्द्रिय को ऊपर की ओर खींचने की भी विधि लिखी है, किन्तु नाभि-मण्डल के नीचे की नाड़ियों को अपने हाथ की हथेली से ऊपर की ओर तनाव देकर रखोगे तो भी परिणाम वही निकलेगा। अपने पेट की वायु को बाहर निकाल देने पर उसको यथाशक्ति बाहर रोके रहना चाहिए। जब घबराहट मालूम पड़े तब धीरे-धीरे उस वायु को अन्दर ले लो, किन्तु अन्दर रोकने का अभ्यास नहीं करना चाहिए, वर्षों तक योग-साधक यदि इस प्राणायाम को करता रहता है, तो वह अवश्य ही ऊर्ध्वरेतस बन जाता है। उसका वीर्य ऊर्ध्वगमन करने लगता है और वह बिन्दुजय कर लेता है।

सिद्धे बिन्दु महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले।

अर्थात् बिन्दुजय प्राप्त करने के बाद ऐसा कोई साधन नहीं जिसको मनुष्य न कर सके। योग-दर्शन ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा का फल बतलाता है :—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः

यस्य लाभादप्रतिघात् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनियेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मचर्य धारण करने से योगी अपने शरीर में अलौकिक गुणों का आकर्षण कर लेता है और शनैः शनैः उसकी मन-बुद्धि का इतना ऊँचा विकास हो जाता है कि उसे अपने विनीत शिष्यों के अन्दर शक्ति-संचार करने की योग्यता बढ़ जाती है। इसलिये उपरोक्त साधनाओं द्वारा साधक को अपने आपको ऊर्ध्वरेतस बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य योग साधनों में शक्तिचालिनी मुद्रा जो वज्रासन के अभ्यास से की जाती है वह भी ऊर्ध्वरेतसता की जननी है। शक्ति-चालिनी मुद्रा के अन्दर विपरीत पाद बद्धासन लगा करके भस्त्रिका प्राणायाम किया जाता है, जिसके फलस्वरूप कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण एवं वीर्य का ऊर्ध्वकर्षण अनायास होता है।

शीर्षासन एवं ऊर्ध्वरेतसता

शीर्षासन हमारे योगाचार्यों की अमर देन है। इसको विपरीतकरणी मुद्रा के रूप में भी बतलाया गया है। जो लोग नियम से विधिपूर्वक शीर्षासन का अभ्यास करते हैं। उनका वीर्य भी ऊर्ध्वगमन करने लगता है। किन्तु शीर्षासन के अभ्यासियों को चाहिए कि इस विपरीतकरणी मुद्रा को किन्हीं योग-शिक्षण केन्द्रों में जाकर सीखें। शीर्षासन के अभ्यासी लोगों को मस्तिष्क के ऊपर वाला भाग जिसको कपाल कहते हैं, वही जमीन में लगाना चाहिए और अपने आहार का ख्याल रखना चाहिए। इसके अभ्यास के लिए शास्त्रीय लेख है :—

अधः शिराश्चतोर्ध्वपादः,
क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।
क्षणाच्च किंचिदधिक-
मभ्यसेच्च दिने-दिने॥

वलितं पलितं चैव,
षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्य-
मभ्यसेत्सतुकालजित्॥

अर्थात् पहले दिन एक क्षणके लिए शीर्षासन करना चाहिए। दूसरे दिन कुछ एक क्षण से अधिक बढ़ाये। इस प्रकार बढ़ाते-बढ़ाते महीने भर में २ या ३ मिनट तक ही बढ़ाना चाहिए। शीर्षासन के अभ्यासी योगीको भूखा नहीं रहना चाहिए।

—★ हमारे तरुण एवम् योग-दर्शन ★—

श्री आशुतोषानन्द एम० ए०

मानव को वास्तविक व आन्तरिक सन्तोष, शान्ति व प्रसन्नता केवल भौतिकवाद से ही प्राप्त नहीं हो सकती है और यदि उसे वास्तविक शान्ति व सन्तोष चाहिए तो उसे आध्यात्मिकता की ओर भी अग्रसर होना पड़ेगा और भौतिकवाद व अध्यात्मवाद में एक संतुलन स्थापित करके ही जीवनयापन करना पड़ेगा तभी वह वास्तविक रूपमें सुखी हो सकता है।

आज पूर्ण विश्व में हमारे तरुण वर्ग में काफी अशान्ति व असन्तोष पाया जाता है और जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों के प्रति श्रद्धा का अभाव है। उनमें अनुशासनहीनता का तत्व संक्रामक रोगकी भांति पनप रहा है। आखिर इसका हल तो हमें ढूंढना ही है। उनकी अशान्ति, असन्तोष को दूर करना है। जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों में उनकी श्रद्धा पुनः जागृत करनी है व उन्हें पूर्ण अनुशासित करना है। मेरे स्वयं के योगाध्ययन व अभ्यास से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि यदि हमारे तरुण वर्ग को प्रारम्भिक योग-विद्या का अध्ययन व अभ्यास कराया जाय तो पर्याप्त मात्रा में उनकी अशान्ति व असन्तोष समाप्त हो सकता है और जीवन के महत्वपूर्ण मूल्योंमें उनकी श्रद्धा पुनः स्थापित की जा सकती है

नित्यमभ्यासयुक्तस्य,
जठराग्नि विवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य,
सपाद्यः साधकस्य च॥
अल्पाहारी यदि भवेदग्नि-
र्दहति तत्क्षणात्॥

अर्थात् जो साधक शीर्षासन का अभ्यास करता है उसकी उत्तरोत्तर जठराग्नि बढ़ती चली जाती है। इसलिए खान पान में उसको संकोच नहीं करना चाहिए और नहीं किसी प्रकार का व्रतादि करना चाहिए। क्योंकि यदि शीर्षासन का अभ्यासी अल्पाहारी होगा तो उसकी अपनी जठराग्नि उसका स्वयं दहन कर देगी। शीर्षासन करने वाले अभ्यासी साधक को भी अपने अभ्यास-काल में यह धारणा करते रहना चाहिए कि मैं अपने वीर्य को नाभि-मण्डल से ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। नाभि-मण्डल से नीचे के भाग को ऊर्ध्वकर्षण करने से साधक अवश्य ही ऊर्ध्वरेतसता को प्राप्त कर लेता है। इस लेख में जिन क्रियाओं का संकेत किया गया है उन सबको साधक को समझ कर करना चाहिए। यदि विधि पूरी समझ में न आ सके तो अवश्य योग-शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करके ही इन क्रियाओं को करना चाहिए, जिससे पूर्ण लाभ उठा सकें।

■—■

और वे अनुशासित हो सकते हैं।

योगाभ्यास का उद्देश्य उन्हें स्वयं अनुशासित करना है तथा उनका शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास करना है। आज उनके मुखारविन्द पर वही प्रतिभा, ओज व तेज हो सकता है जो कि प्राचीन काल के विद्यार्थियों के मुखारविन्द पर था जो कि अपने गुरुओं के पास रहकर शिक्षा अध्ययन करते थे। आज पुनः हमारे तरुणों को हमारी प्राचीन संस्कृति की ओर ध्यान दिलाकर चाहता हूँ कि वे प्रतिभाशाली बनें व अपनी प्रतिभा से देश को गौरवान्वित करें। यह देश जो परमहंस व विवेकानन्द का है ऐसे ही महान् व्यक्तियों को पुनः जन्म दे सके।

१. योग का तात्पर्य —

योग का शाब्दिक अर्थ है 'मेल' अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा का मेल। योगाभ्यास से जीवात्मा भगवत-साक्षात्कार करना चाहता है और अपने को इतना शुद्ध व निर्मल कर लेता है कि उसके व ब्रह्म में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है और वह भगवत-साक्षात्कार का भागी बनता है।

२. योग का संक्षिप्त इतिहास —

भारतीय दर्शन के ६ दर्शनों में से एक दर्शन 'योग-दर्शन' के नाम से भी विख्यात है और महर्षि पतञ्जलि का योग का अष्टांग मार्ग सुप्रसिद्ध है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में हमें योग विद्या का वर्णन श्रीमद्भगवत गीता, श्रीमद्भागवत व ऋग्वेद आदि में मिलता है। गीता में योग विद्या का ज्ञान भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया व श्रीमद्भागवत में नारद मुनि ने भक्त ध्रुव को योग विद्या की सीख दी, जिससे ही केवल ५ महीनों में भक्त ध्रुव को भगवत-साक्षात्कार हो गया।

३. वर्तमान युग में योगाभ्यास का महत्व —

आज इस वैज्ञानिक युग में दिन प्रतिदिन योग-विद्या का महत्त्व बढ़ता जा रहा है न केवल भारत में, परन्तु विदेश में जो कि भौतिक दृष्टि से सर्व सम्पन्न व समृद्धशाली है, वे भी योगाभ्यास के महत्व की अनुभूति कर रहे हैं और भारत में इस विद्याको सीखने आ रहे हैं। इसका एकमात्र कारण उनमें वास्तविक प्रसन्नता, शान्ति व सन्तोष का अभाव है और इसी की खोज में वे भारत को प्रस्थान कर रहे हैं और योगाभ्यास करके लाभ उठा रहे हैं।

४. योग-विद्या में रुचि का होना —

श्रीमद्भगवतगीता के अध्याय ६ के ३७ से ४३ श्लोक में इसका वर्णन मिलता है। अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न पूछते हैं कि हे कृष्ण ! योग से चलायमान हो गया है मन, जिसका ऐसा शिथिल यत्न वाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत-

साक्षात्कार को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है।

और हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग से मोहित हुआ आश्रय रहित पुरुष छिन्नभिन्न बादल की भांति दोनों ओर से अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगों से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ?

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से छेदन करने के लिए आप ही योग्य है, क्योंकि आपके सिवाय इस संशय को छेदन करने वाला मिलना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान बोले—हे पार्थ ! इस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला अर्थात् भगवत–अर्थ कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।

किन्तु वह योग-भ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकों में प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षों तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है। अथवा वैराग्यवान पुरुष उन लोकों में जाकर ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जो जन्म है सो संसार में निःसन्देह अति दुर्लभ है और वह पुरुष उस पहिले में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को अर्थात् समत्व बुद्धि योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनंदन ! उसके प्रभाव से फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है।

५. योग के प्रकार—

(अ) वेदान्त प्रणाली

(१) हठयोग—हठयोग में शरीर और उसकी बलशाली क्रिया-विधियों को सुदृढ़ व पूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है।

(२) राजयोग—राजयोग में मानसिक क्रिया के विभिन्न भागों को सुदृढ़ व बलशाली बनाया जाता है।

(३) तीन प्रकार के योग—कर्म, भक्ति व ज्ञान—मनुष्य के मानसिक क्षेत्र के कुछ अङ्ग चुन लेता है। इच्छा, हृदय व बुद्धि, प्रारम्भ करने के हेतु और इसके परिवर्तन द्वारा स्वतन्त्रता, सत्य व अलौकिक प्रसन्नता को प्राप्त करना जो कि आध्यात्मिक जीवन की प्रकृति है। शरीर में मानव पुरुष व परम पुरुष जो प्रत्येक मनुष्य में उपस्थित है और फिर भी सबसे पृथक सी उसकी सत्ता है।

(ब) तांत्रिक योग

इस तांत्रिक योग का स्वामी प्रकृति है। प्रकृति भी आत्मा की शक्ति है, ब्रह्माण्ड की प्रेरक शक्ति और इसका प्रतिफल है दक्षता, पूर्णता, स्वतन्त्रता व अलौकिक प्रसन्नता। इसमें शक्ति की पूजा की जाती है।

(स) श्री अरविन्द की पूर्ण योग की विधि

हमारे चेतन मानस का पूर्ण सम्बन्ध परमात्मा से स्थापित करना और हमारे पूर्ण मानस को उसी की भांति परिवर्तन करने के लिए उसका आह्वान करना जिससे कि ईश्वर जो कि हमारे सूक्ष्म शरीर का सत्य है हमारी साधना का साधक बन जावे और योग का स्वामी हो जिससे कि हमारा निम्न व्यक्तित्व उच्च व्यक्तित्व में परिवर्तित हो जावे।

६. उपासना योग के आठ अंग—

जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

(१) यम :

संक्षेप में यम का तात्पर्य है अपने पर नियन्त्रण करना और प्रत्येक प्राणी से उचित व न्यायपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। इसके लिए ५ तरीके उपलब्ध हैं।

प्रथम—अहिंसा, जिसका अर्थ न केवल यह है कि जानवरों व मनुष्यों की हिंसा न की जाय। परन्तु इसका तात्पर्य है कि साधक दूसरे व्यक्तियों के साथ प्रेम, सहानुभूति, दया का व्यवहार करे।

द्वितीय—चोरी न करना, बिना किसी के पूछे किसी की वस्तु न लेना।

तृतीय—सत्य, मन, वचन व कर्म से सत्य का पालन करना।

चतुर्थ—ब्रह्मचर्य, जिसका तात्पर्य न केवल जितेन्द्रिय रहना है, परन्तु इसमें एकान्त में रहना व मौन रहना भी सम्मिलित है।

पंचम—अपरिग्रह, धन-सम्पत्ति, भोग-सामग्री आदि का स्वार्थ दृष्टि से संचय करने से बचना।

(२) नियम :

संक्षेप में इसका तात्पर्य है धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करना। ये भी पाँच ही हैं।

प्रथम—शौच—दो प्रकार का होता है।

(१) आन्तरिक—मल-मूत्र का त्याग करना।

(२) बाह्य—शीतल जल से स्नान करके स्वच्छ वस्त्रों को पहनना।

द्वितीय—सन्तोष—जो भी अपने स्वयं के परिश्रम से प्राप्त हो उसी में सन्तोष करना और अधिक के लिए इच्छा न करना।

तृतीय—तप—सब द्वन्द्व अवस्थाओं में विक्षोप के योग-मार्ग में प्रवृत्त रह सकें। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, सुख, दुख, हर्ष व शोक।

चतुर्थ—स्वाध्याय—विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले सतशास्त्रों को नियमपूर्वक अध्ययन करना।

पंचम—ईश्वर प्रणिधान—ओउम् का

इसके अर्थों की भावना सहित जाप अर्थात् शरीर, मन, वाणी से।

(३) आसन :

जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बिना हिले-जुले दीर्घकाल तक सुख के साथ बैठ सके वही आसन है। शरीर पर नियन्त्रण रखने के हेतु जो आगे के अंगों में सहायता प्रदान करता है। सिद्धासन ध्यान व ब्रह्मचर्य के पालन के लिए लाभप्रद है। सिद्धासन की विधि है कि पालथी मारकर, बैठकर पहले अपना बांया पैर नीचे और दांया पैर उसके ऊपर रखना। दांये पैर की एड़ी उपस्थ पर आनी चाहिए। हाथ घुटने पर और सिर, गर्दन व रीढ़ एक सीधी रेखा में हो।

(४) प्राणायाम :

श्वास प्रश्वास की गति को रोकना, प्राण का तात्पर्य है जीवन-शक्ति। इसके तीन अङ्ग हैं जो कि पूरक-सांस अन्दर खींचना, कुम्भक-सांस को बाहर छोड़ना। इनकी तन्मात्रा १ : ४ : २ की होनी चाहिए।

(५) प्रत्याहार :

(पीछे हटना) इन्द्रियों को, रूप तक की और बहिर्मुखता रूप से रसों से शून्य करके सात्विक रूप में चित्त के साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना।

(६) धारणा :

चित्तको वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष से बांधना। सात्विक रूप में वृत्ति मात्र से किसी एक विषय में ठहराकर दिव्य बनाना होता है।

(७) ध्यान :

जिस ध्येय विषय में चित्त को धारणा द्वारा वृत्तिमात्र से ठहराया है उसमें वृत्ति का एक सा बना रहना ध्यान कहलाता है।

ध्यान के प्रकार—

(१) अनिरा ध्यान– देखते हुए भी न देखना।

(२) प्रतीक ध्यान—प्रतिमा के किसी भी बिन्दु पर एकाग्र चित्त से देखना।

(३) प्रतिश्वासध्यान—श्वास-प्रश्वास से सोहंम् की ध्वनि का आभास होना।

(४)—त्रिकुटि के माध्यम में आंख मूंद कर ध्यान करने से प्रकाश के दर्शन होना।

(८) समाधि :

यह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है। ध्यान तथा ध्यातृ का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है।

८. एक साधक को योगाभ्यास करते हुए ध्यान में रखने योग्य बातें—

(१) प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में ४-३० बजे उठना चाहिए।

(२) उठकर भीतरी व बाह्य शौच से निवृत्त होना चाहिए।

(३) फिर उपस्थ इन्द्रिय पर लंगोट बांध कर ही आसन पर बैठना चाहिए।

(४) आमाशय बिल्कुल खाली होना चाहिए।

(५) योगाभ्यास का उचित समय प्रातः और सायं ही है।

(६) अपने अभ्यास के लिए पृथक कमरा होना चाहिए।

(७) आसन के लिए या तो कम्बल को चार तह में लपेट कर प्रयोग करना चाहिए या फिर मृगछाला प्रयोग करना चाहिए।

(८) आसन पर बैठने का समय निर्धारित होना चाहिए व नियमानुसार नित्य बैठना चाहिए चाहे कम ही समय के लिए बैठें। इसका समय आधा घंटे से ३ घंटे तक का है।

(९) शरीर पर लंगोट के अतिरिक्त कुछ भी न हो तो अच्छा है, केवल बनियान पहन लेना हानिकारक नहीं है।

(१०) आसन पर बैठते समय सिर, गर्दन व रीढ़ एक ही सीधी रेखा में होनी चाहिए।

८. योगाभ्यास से लाभ—

योग से कई प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं परन्तु उनसे मेरा तात्पर्य नहीं है। यह तो आगे की स्थिति है, परन्तु साधारण लाभ निम्न प्रकार हैं :

आसन से लाभ—

विभिन्न आसनों से शरीर पुष्ट होता है और मुख्यकर सिद्धासन से ब्रह्मचर्य के पालन करने में सहायता होती है।

प्राणायाम से लाभ—

इससे नाड़ियों से रक्त की भली प्रकार शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध व निर्मल होता है तथा नाड़ी-मण्डल सुदृढ़ व बलशाली होता है।

ध्यान से लाभ—

मन मस्तिष्क एकाग्र होता है, इच्छा-शक्ति प्रबल होती है और ईश्वर में दृढ़ आस्था व विश्वास की वृद्धि होती है।

आशा है कि हमारे तरुण योगाभ्यास की ओर रुचिकर होकर अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयास करेंगे। अपने जीवन में अनुशासित होकर अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्यों में केन्द्रित करके पूर्ण शान्ति, सन्तोष का अनुभव करके स्वयं अनुशासित होंगे। जगदीश्वर उन्हें सन्मार्ग पर ले चलें।

श्री रुद्राष्टक स्तोत्र

श्री राघवेन्द्र तिवारी, वर्मोरी कलाँ, ललितपुर (उ० प्र०)

(१)

नमस्कार ईशान दिशा के अधिपति ईश्वर,
मुक्त, वेद, व्यापक-स्वरूप, सक्षम परमेश्वर।
निर्गुण, निर्विकल्प, स्वायंभू रहित-चेष्टा,
चिदाकाश, आकाश-तत्व आधार महेश्वर॥

(२)

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से परे निराकार हो,
ओंकार के मूल, तुरीय-स्वरूप, शैलपति।
वचन, ज्ञान, इन्द्रिय से परे, कराल काल के—
काल, कृपालु, गुणाकर, भव से परे उमापति॥

(३)

हिमाधिपति सागौर वर्ण छवि कोटि मदन की,
स्फुर हो कल्लोल कर रही अविरल सुरसरि।
भाल द्वितीया का शिशु-विधु आभा बिखेरता,
और कण्ठ में आन्दोलित लिपटे भुजंग-वरि॥

(४)

विचलित कुण्डल कर्ण पटल पर शुभ्रनेत्र हैं,
मुण्डमाल हरि-वर्ण वसन अरु श्री प्रसन्न मुख।
उमाधाम श्री नीलकण्ठ मैं ! आराधक तब,
सर्व प्रियात्मन, दाता हो तुम सर्व शान्ति-सुख॥

(५)

ओ प्रचण्ड, उत्कृष्ट, प्रगल्भ, अखण्डित ईश्वर,
अज, करोड़ रवि-मालाओं से प्रभावान।
ओ त्रिशूलधर भौतिकादि त्रय-ताप विनष्टक,
गिरिजापति, मैं ध्याता, धरता नित्य ध्यान॥

(६)

ओ कलातीत, कल्पान्तेय, कल्याण सिन्धु,
सद्जन-आनन्दक हो सदैव, ओ दनु-त्रिपुर!
ओ चैतन्य-परम-सुख-मय, ओ मोह विनाशक,
ओ कामारि प्रसन्न होइयेगा मम ऊपर॥

(७)

ओ पारवती के पति, आपके चरण-कमल का,
नहीं ध्यान धरते हैं, वे परलोक-लोक में।
ओ सब जीवों में निवास करने वाले प्रभु,
उन्हें न मिलती शान्ति सदा रहते हैं शोक में॥

(८)

मैं योग, जाप, पूजा, कुछ तो भी नहीं जानता,
नमस्कार करता हूँ त्याग हृदय का संशय।
वृद्धावस्था, जन्म, मरण से बहुत दुःखी हूँ,
शरण आपकी, ओ करुणाकर मामभिरक्षय॥

इस रुद्राष्टक को बना शिव किये विप्र प्रसन्न।
शंकर होत प्रसन्न हैं, पढ़ें भक्ति-आसन्न।

सत्यकाम जाबाला की कथा—

गुरु की सेवा से ब्रह्मज्ञान

ब्र॰ श्री सुरेन्द्रबहादुर एम॰ ए॰

हमारे शास्त्रों का उपदेश है—'गुरु भक्ति सदा कुर्वीत् श्रेयसे भूयसे नरः।' अर्थात् जो मनुष्य अपना परम कल्याण चाहता है, उसे गुरु-भक्ति करनी चाहिए। गंधर्व तंत्र कहता है :—

यस्य भक्तिर्गुरौ नित्यं,
वर्तते देववत् प्रिये।
तस्य सर्वार्थ सिद्धिः,
स्यान्नान्यथा खलु पार्वती॥

अर्थात् जिसकी गुरु में सर्वदा ईश्वर-तुल्य भक्ति रहती है, उसके सारे उद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। गुरु-भक्ति के अतिरिक्त सर्वार्थ-सिद्धि का कोई अन्य उपाय नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखारविन्द से उद्धव से कहते हैं :—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।

अर्थात् गुरु को मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए, उनकी अवज्ञा कभी नहीं करनी चाहिए।

गुरुदेव की केवल आज्ञा का प्रसन्नतापूर्वक पालन करके सत्यकाम किस प्रकार परम श्रेय का भागी बना, यह हमें छान्दोग्य उपनिषद् से ज्ञात होता है।

जबाला नामकी एक ब्राह्मणी थी। उसके पुत्र का नाम सत्यकाम था। जब सत्यकाम कुछ बड़ा हुआ तो एक दिन उसने अपनी माता को सम्बोधित करके निवेदन किया—"हे पूज्यनीये! मैं स्वाध्याय ग्रहण के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में निवास करना चाहता हूँ। यदि गुरुदेव मुझसे मेरे गोत्र का नाम पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा? मुझे मेरा गोत्र ज्ञात नहीं है। अतः माँ! मुझे मेरे गोत्र का नाम बता दे।" जबाला ने उत्तर दिया—"हे तात! तू किस गोत्र वाला है इसे मैं नहीं जानती। पहले मैं पति के घर आने वाले बहु-संख्यक अतिथियों की सेवा-टहल करने वाली परिचारिका थी। परिचर्या में संलग्न रहने के कारण गोत्र आदि की ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया। उन्हीं दिनों युवावस्था में जब मैंने

तुझे प्राप्त किया अर्थात् तू पैदा हुआ तो तेरे पिता परलोकवासी हो गये, अतः उनसे भी पूछ न सकी। इस प्रकार मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। अतः तू अपने को 'सत्यकाम जबाला बतला देना।' माता की आज्ञा पाकर सत्यकाम ने महर्षि हरिद्रुम के पुत्र गौतम ऋषि के पास जाकर कहा—"भगवन्! मैं ब्रह्मचर्य-पालन पूर्वक वेदादि का अध्ययन तथा आपकी सेवा करना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें।" तब गौतम ऋषि ने पूछा—"हे सौम्य! तुम्हारा गोत्र क्या है?" सरल स्वभाव वाले बालक सत्यकाम ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "प्रभो! मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने माता से पूछा था। उसने मुझे उत्तर दिया कि 'पहले मैं पति के घर आने हुए बहुत से अतिथियों की सेवा-टहल करने वाली परिचारिका थी। परिचर्या में संलग्न रहने के कारण गोत्र आदि की ओर मेरा ध्यान नहीं गया। उन्हीं दिनों युवावस्था में जब मैंने तुझे प्राप्त किया तो तेरे पिता परलोकवासी हो गये। अतः उनसे भी न पूछ सकी। इसलिये मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा जबाला तथा तेरा नाम सत्यकाम है।' अतः हे मुने! मेरा नाम सत्यकाम जाबाला है।" सत्यकाम के कोमल हृदय से निकली हुई सरलतापूर्ण सत्य बात को सुनकर गौतम ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे, "वत्स सत्यकाम! अब मैं समझ गया कि तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो, क्योंकि ब्राह्मण के अतिरिक्त इस प्रकार सरलतापूर्वक सत्य बात अन्य कोई नहीं कह सकता। अतः हे सौम्य! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन संस्कार करूँगा, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया।" ऐसा कहकर आचार्य ने सत्यकाम का विधिवत् उपनयन संस्कार किया और चार सौ कृश और दुर्बल गायें देकर कहा, "बेटा जब तक ये चार सौ गायें एक हजार न हो जायें, तब तक तुम इन्हें वन में चराओ और एक हजार होने पर लौटना।" सत्यकाम ने उन गायों को ले जाते हुए कहा, "जब तक इन गायों की संख्या एक हजार नहीं हो जायेगी, तब तक मैं लौटकर नहीं आऊँगा।"

जब तक उन गायों की संख्या चार सौ से बढ़कर एक हजार नहीं हो गई, तब तक सत्यकाम वर्षों तक वन में ही रहा। जब वे गायें एक हजार हो गईं तब एक दिन दिशाओं का अधिपति वायु सत्यकाम की गुरु-सेवा से प्रसन्न होकर एक सांड के देह में प्रविष्ट होकर बोला, 'हे सौम्य! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तू हमें आचार्य कुल में पहुँचा दे। मैं तेरी गुरु-निष्ठा से बड़ा प्रसन्न हूँ, अतः मैं तुझे चतुष्पाद ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करता हूँ। पूर्व दिशा उस ब्रह्म के एक पाद का चौथा भाग है। इसी प्रकार पश्चिम, दक्षिण और

उत्तर दिशायें भी उस पाद की कलायें हैं। इस प्रकार चारों भाग या कलायें मिलकर उस ब्रह्म का एक पाद है। ब्रह्म के इस एक पादको 'प्रकाशवान' पाद कहते हैं। हे सौम्य! अब तुम्हें दूसरे पादका उपदेश अग्नि करेंगे।"

दूसरे दिन प्रातःकाल अपने नित्य कर्म से निवृत्त होकर सत्यकाम उन एक सहस्र गायों को लेकर गुरुकुल के लिए रवाना हो गया। चलते-चलते मार्ग में जिस स्थान पर संध्या हो गई, उसी स्थान पर उसने गायों को ठहरा दिया और अग्नि प्रज्वलित करके अग्नि के पश्चिम तरफ बैठ गया। अग्नि की वाणी सुनाई दी, "सत्यकाम! मैं तुमको ब्रह्म के [illegible] का उपदेश करता हूं। पृथ्वी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है। हे सौम्य! यह ब्रह्मका अनन्तवान् नामक चतुष्कल पाद है। अब हंस तुमको तीसरा पाद बतलायेंगे।" ऐसा कहकर अग्नि चुप हो गया।

दूसरे दिन उसने गौओं को पुनः आचार्य कुल की ओर हांक दिया। वे सायंकाल जहां एकत्रित हुए वह उसी स्थान पर अग्नि प्रज्वलित कर गायों को रोक, समिधान कर अग्नि के पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। तब हंस ने उसके समीप उतरकर कहा, "सत्यकाम! मैं तुम्हें ब्रह्म का पाद बतलाऊंगा, ध्यानपूर्वक सुनो। अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत कला है। हे सौम्य! यह ब्रह्म का 'ज्योतिष्मान' नामक चतुष्कल पाद है। अब मद्गु (एक प्रकार का जलचर पक्षी) तुमको चतुर्थ पाद का उपदेश करेगा।" ऐसा कहकर हंस चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उसने गायों को पुनः गुरुकुल की ओर हांक दिया। वे सायंकाल जहां एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गायों को यथा-स्थान रोक, समिधाधान कर अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। मद्गु ने उसके पास उतर कर कहा, "सत्यकाम! मैं तुम्हें ब्रह्म का चतुर्थ पाद बतलाऊंगा। प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है। सौम्य! यह ब्रह्म का 'आयतनवान' नाम का चतुष्कल पाद है।"

इस प्रकार गुरु के घर लौटते समय मार्ग में ही गुरु-भक्ति के बल से चार देवताओं द्वारा ब्रह्म के चारों पादों का सोलह के सहित ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसके मुख-मण्डल पर एक दिव्य-तेज दिखलायी देने लगा। गुरुकुल में पहुंचने पर गुरुदेव ने उस गुरु-आज्ञापालक सत्यकाम के तेजयुक्त मुख-मण्डल को देख प्रसन्न होकर बोले, "बेटा! तू ब्रह्मवेत्ता-सा भासित हो रहा है, तुझे किसने उपदेश दिया है?" सत्यकाम ने विनीत-भाव से उत्तर दिया, "प्रभो! मनुष्यों से भिन्न भिन्न देवताओं ने मुझे उपदेश दिया है।" सत्यकाम के

'मनुष्यों से भिन्न' कहने का तात्पर्य यह है कि जब उसे सद्गुरु की प्राप्ति हो गई है तो वह दूसरे मनुष्य का उपदेश कैसे ले सकता है। एक सच्चे सद्गुरु के शिष्य को उपदेश देने में कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता। अपने गुरुदेव में निष्ठा रखने वाला शिष्य किसी दूसरे व्यक्ति के पास ज्ञानोपदेश प्राप्त करने नहीं जाता, वरन् देवता गुरु भक्तों से प्रसन्न होकर स्वतः ही उसे उपदेश करने आते हैं।

सत्यकाम ने आचार्य से प्रार्थना की—"भगवन्! यद्यपि देवताओं ने कृपापूर्वक स्वतः आकर मुझे ज्ञानोपदेश किया है, तथापि मेरी इच्छा है कि आप पूज्यपाद ही मुझे उस विद्या का उपदेश करें। मैंने श्रीमान् जैसे ऋषियों से सुना है कि गुरुदेव के मुख से सुन कर जानी गई विद्या ही अतिशय फल प्रदान करने वाली है।" तब आचार्य ने उसे उसी विद्या का उपदेश किया। गुरुदेव की कृपा से सत्यकाम को ज्ञान पूर्ण हो गया।

सत्यकाम की गुरु-भक्ति धन्य है। इस प्रकार का गुरु-भक्त और गुरु की सेवा करने वाला शिष्य ही वास्तविक तत्त्व-ज्ञान का अधिकारी होता है और ऐसे ही गुरु-भक्ति-परायण शिष्य में परम तत्त्व प्रकाशित होता है। श्रुति कहती है:—

यस्य देवे पराभक्ति-
यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः,
प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसकी भगवान् में पराभक्ति है और उसी प्रकार की भक्ति गुरुदेव में भी है, उसी में वह आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है।

व्यास स्मृति में लिखा है:—

गुरु मूलाः क्रियाः,
सर्वाभुक्तिमुक्तिफलप्रदाः
तस्मात्सेव्यो गुरु नित्यं,
मुक्त्यर्थस्तु समाहितैः॥

अर्थात् भोग और मोक्ष का फल प्रदान करने वाली सम्पूर्ण क्रियायें गुरु की कृपा पर निर्भर हैं। अतः सर्वदा समाहित चित्त से श्री गुरुदेव की सेवा करनी चाहिए।

जैसे मल रहित दर्पण में उसके सामने आयी हुई वस्तु दर्पण से विलक्षण और स्पष्ट दिखलाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुषों के विशुद्ध अन्तःकरण में वे परमेश्वर उससे विलक्षण एवं स्पष्ट दिखलाई देते हैं।

—कठोपनिषद्

संस्कृत भाषा एवं संस्कृति का स्वरूप

श्री हरिप्रसाद उपाध्याय, व्याकरणाचार्य, मिर्जापुर (उ० प्र०)

संस्कृत भाषा —

भाषासु मुख्यामधुरा दीव्या गीर्वाण भारती

संस्कृत भाषा संसार की सभी भाषाओं में श्रेष्ठतम एवं प्राचीनतम है। 'संस्कृत शब्द' सम् पूर्वक कृ धातु से सम्परिभ्यां करोती भूषणे, इस सूत्र से सुट् होने पर बनता है। संस्कृत का अर्थ है परिष्कृत होना अर्थात् संस्कार की हुई भाषा।

संस्कृत भाषा का साहित्य संसार की अशेष भाषाओं के साहित्य से बृहत् है। आज अगर भूमण्डल पर कोई प्राचीन भाषा है तो संस्कृत है। आजकल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जङ्गलों में घूम-घूमकर केवल संकेत मात्र से अपने मनोगत भावों को व्यक्त किया करती थीं उस समय या उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आदि लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे।

समस्त विश्व में यह भाषा व्याप्त है, कोई भी स्थान इस भाषा से वञ्चित नहीं। भारतीय दर्शन अन्य देशों के दर्शन की अपेक्षा बहुत ऊँचा है। जर्मन के विद्वान् गे० टे० ने शेक्सपीयर के नाटकों अपेक्षा कालिदास के शाकुन्तलम् को अधिक महत्ता दी है। संस्कृत भाषा की व्यापकता जितनी है उतनी अन्य भाषा की नहीं। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो संस्कृत में न लिखा गया हो। कौटिल्य का अर्थशास्त्र सभीको प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त भूगर्भ तत्ववेत्ताओं के विज्ञान द्वारा सिद्ध किये गये कनक, रजत, ताम्रादि निधि स्थान है। इस प्रकार का लेख तथा आगम शास्त्र बहुधा संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं। यथा मन्त्र महार्णव तन्त्र ग्रन्थ में, निधि ग्रहणाञ्जन प्रकरण में निधि स्थान के परीक्षण लक्षण में लिखा है—

विहगा यत्र तिष्ठन्ति निधिस्तत्र न संशयः

इत्यादि उल्लेखों से भूगर्भ तत्वादि से भी संस्कृत की व्यापकता प्रसिद्ध है।

सुर-भारती की अभिरामता की दृष्टि से यह अग्रगण्य है। जैसी कोमल पदावलियों का

इसमें सन्निवेश है, ऐसी पदावलियां अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जाती है। उदाहरणार्थ एक पद्य वाल्मीकि रामायण से प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें अभिरामता ही नहीं अपितु दया का जो भावोद्रेक हुआ वह भारतीयों के लिये काव्य साहित्य का वरदान हुआ।

मा निषाद प्रतिष्ठा,
त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यौत्क्रौञ्च मिथुनादेक-
मवधीः काम मोहितम्॥

संस्कृत भाषा भिन्न-भिन्न प्रांतों की अन्यान्य भाषाओं की जननी भी है। संस्कृत ने ही सब भाषा के भण्डार को भरने में प्रचुर दान दिया है। पञ्जाबी, गुजराती, मराठी, बंगला तथा अन्य सभी भाषाओं में प्रायः संस्कृत के शब्द मिलते हैं। एशिया के सभी प्रान्तों व देशों की संस्कृति सभ्यता व भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती है। संस्कृत के आधार पर ही जम्बूद्वीप अपनी सांस्कृतिक एकता पर गर्व रखता है। संस्कृत ने ही अपने रामायण, महाभारतादि रत्न ग्रन्थों द्वारा भारतीय इतिहास को अलौकिक सामग्री दी है। इसी के आधार पर आज हम अपनी प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता एवं संस्कृति को जान पाते हैं। हम भारतीयों के सभी प्रकार के अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि का साधक एवं ज्ञान-प्रदर्शक यही सुर भारती है। इसने अखिल विश्व को प्राचीन काल से अपनाया तथा सजीव बनाया है। भाषा तथा भाव, रस तथा अलङ्कार, साहित्य तथा तन्त्र किसी भी दृष्टि से भगवती सुर-भारती के सौन्दर्य का परिशीलन किया जाय, पर इसकी अलौकिक अभिरामता की छटाको प्रवाद शून्य ही कहना उचित होगा। साहित्य, सौन्दर्य तथा तान्त्रिक अभिरामता संस्कृत भाषामें ही पाई जा सकती है अन्यथा नहीं।

संस्कृति का स्वरूप —

प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति संस्कृति है, जो अनुभव जन्य ज्ञानके आश्रित है। संस्कृति सर्वदेश, सर्वकाल में सभी के लिए सर्वथा हितकारिणी होती है। संस्कृति किसी की उपज नहीं, बल्कि खोज है। इधर प्रचलित भाषाओं में अंग्रेजी-कल्चर, शब्द के लिए संस्कृति शब्द व्यवहृत होने लगा। पालिसी शब्द की तरह "कल्चर" शब्द का अर्थ बहुत व्यापक होने पर भी उसके लिए संस्कृति शब्द अच्छा गढ़ा गया है। संस्कृति शब्द परम्परागत अनुस्यूत संस्कारों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टायें ही संस्कृति है।

संस्कृति आधुनिक युग का सर्वोच्च शब्द कहा जा सकता है। प्रत्येक देश की संस्कृति

सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज, धार्मिक, नृत्य-कला, साहित्य आदि में कुछ ऐसी बातें मिलती है, जो भारतीय सी जान पड़ती है। भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन है, उसी के आधार पर समस्त विश्वकी संस्कृति विकसित हुई। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद, पुराणादि सद्ग्रन्थ है। इन परम पुनीत सद्-ग्रन्थों की रचना आर्यों की परम पवित्र आदि भाषा संस्कृत में हुई जो ग्रन्थ हमारे संस्कृति के स्तम्भभूत एवं स्वरूप माने जाते हैं। हमारी संस्कृति आज भी अक्षय रूप में विद्यमान है। इसका श्रेय इसी अमर भाषा सुर-भारती को है। जिसने हमारी संस्कृति को विश्व के कोने कोने में प्रवाहित किया है।

पाश्चात्य मनीषी इसी भारतीय संस्कृति की अनवद्य एवं सुखद छत्र-छाया में पलकर शान्ति तथा अनुपम विश्राम प्राप्त करने के लिए लालायित रहा करते है।

भाषा तथा संस्कृति के इतिवृत्तों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इसी देव-वाणी की अटूट सेवा के फलस्वरूप इस वृद्ध भारत-वर्ष ने सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व तथा सभी देशों में संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास किया। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि संस्कृत भाषा भारतवर्ष की संस्कृति का नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् के संस्कृति का आदि स्रोत माना गया है। वेदादि शास्त्र सम्मत आचार-विचार ही संस्कृति का स्वरूप है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में वेदादि शास्त्रानुकूल आचार-विचार की व्यवस्था ही सक्रिय रूप है। आचार-विचार संस्कृति का प्रत्यक्ष रूप है।

सिंहल, बरमा, श्याम, कम्बोज, सुमात्रा, जावा, मलय आदि देशों की भाषाओं में आधे से अधिक संस्कृत भाषा के शब्द मिलते है। तात्विक नहीं, बल्कि सविश्वास हम कह सकते है कि ये देश हमारी भारतीय संस्कृति से वञ्चित कदापि न होंगे और न रहेंगे। कतिपय पाश्चात्य विद्वान भारतीय संस्कृति तथा इस अमर भाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जावा आदि देशों का संस्कार प्रायः भारतीय संस्कृति के आधार पर ही सम्पन्न किया जाता है। यूनान के दार्शनिक विद्वान पैथागोरस ने भारतीय हिन्दू गुरुओं से ज्ञान प्राप्त करके भारतीय संस्कृति को सारे विश्व की संस्कृति माना है। वेद-वेदाङ्ग, शास्त्र-पुराण, उपनिषद् आदि सद्ग्रन्थों से सम्मत, रहन-सहन, आचार-विचार ही संस्कृति का स्वरूप माना जाता है।

श्री प्रभु रामलाल-चरितामृत

[श्री गिरधर शर्मा, संगीताचार्य, सहारनपुर]

प्रभु रामलाल अखिलेश्वर की—
हम गाथा सुनाते हैं।
भारत की अमर विभूति की,
गाथा को गाते हैं॥

कैलाशधाम के वासी,
शिव आदि गुरु सुखरासी,
युग-युग में बनकर आते हैं,
सद्गुरु पूरण अविनाशी।
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण भगत हितकारी,
धर श्री सद्गुरु का ध्यान,
जीवन सफल बनाते हैं।

इक समय सदा शिव-शंकर,
दिन रामनवमी का चुनकर,
अमृतसर के पुण्य नगर में,
आए गंडाराम-सुत बनकर,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
भागवन्तीनन्दन प्रभु राम के,
हम गुन गाते हैं।

प्रभु जी ने बालापन में
किये चमत्कार क्षण-क्षण में,
दिव्य दर्श दिए मात-पिता को,
झुके सिद्ध चरणन को,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
उस दिव्य बाल-लीला को हम,
गाकर हर्षाते हैं।

इक वृद्धा की महतारी,
कर्मों की गति से हारी,
श्रीगंडाराम सुत पूर्ण ब्रह्म हैं,
स्वप्न हुआ हितकारी,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
देकर निजपद-रज प्रभुराम जी,
मोक्ष दिलाते हैं।

प्रातः वह वृद्धा धाई,
प्रभु दर्शन हित अकुलाई,
माँ भागवन्ती बाल-प्रभु को,
लेकर उसके घर धाई,

हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
पाकर के पूर्ण ब्रह्म में,
प्राण समाते हैं।

हुए पन्द्रह वर्ष के प्रभुजी,
पढ़े कुरुक्षेत्र में श्री जी,
फिर कनखल से पढ़ते-पढ़ते,
पहुँचे काशी नगरी,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
कर अनन्त भैरवी चक्र,
प्रभु सिद्ध मित्र बनाते हैं।

लगी लगन गुरु चरणन की,
प्रभु राह पकड़ ली वन की,
कष्ट अनेकों सहे प्रभु जी,
सुधि ना रही निज तन की,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
सुनके उनकी व्यथा,
नयन श्री नीर बहाते हैं।

नैपाल गिरी शृङ्गों पर,
ध्यानस्थ सदा शिव शङ्कर,
प्रातः बाल, मध्याह्न युवा,
पुनि वृद्ध रूप अभयङ्कर,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
ठोड़ी को करती स्पर्श भवें,
शिर चन्द्र सुहाते हैं।

उन चन्द्रमौलि की शरण,
पहुँचे जन पातक हरना,
शङ्कर की दीक्षा शङ्कर से,
महिमा जाई ना बरना,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
इस रहस्यमयी लीला का,
ऋषि मुनि पार ना पाते हैं।

यह लौकिक लीला करके,
और घोर तपस्या करके,
लौटे सत्य विजयी प्रभुजी फिर,
जन-हित मन में धरके,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
करते जो द्वन्द्व सहन योंही,
प्रभु पद को पाते हैं।

प्रभु दीनबन्धु अभिरामा,
तब आये बरहन ग्रामा,
ठाकुरदास भक्त वैद्य को,
कर दीना निष्कामा,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
यों करने त्राण जगत का,
प्रभुजी फिर से आते हैं।

प्रभु आये ग्राम सवाई,
वहाँ योग की ज्योति जगाई,
वास गुरु के धाम किया,
तालाब में शक्ति गिराई,
हरत अज्ञान, करत—
कल्याण, भगत हितकारी,
प्रभु जन-हित को श्री सिद्ध-गुफा,
तीरथ बनवाते हैं।

प्रभु रामलाल अखिलेश्वर की कथा सुनाते हैं।

उपरोक्त द्वादश पदोंमें आनन्दकन्द श्रीप्रभु जी के आविर्भाव—बाललीला की एक दो घटनाओं, शिक्षा-दीक्षा, तपश्चर्या एवं तत्व विजयी होकर नेपाल हिमालय की कन्दराओं से जन-हितार्थ पुनरागमन बरहन ग्राम (बरहन जंकशन उत्तर रेलवे) में पदार्पण, सवाई ग्राम में 'गुरु के बाग' में निवास एवं लोक-कल्याणार्थ 'श्री सिद्ध गुफा' तीर्थ के निर्माण का उल्लेख है।

आदि गुरु भगवान शङ्कर कैलाश धाम में सदैव समाधिस्थ रहते हुए भी प्रत्येक युग में श्री सद्गुरु रूप में अवतरित होते हैं। वे ही नित्य-चेतन परम-तत्व परब्रह्म स्वरूप भगवान सदा शिवशङ्कर इस घोर कलिकाल में सद्गुरुओंकी जन्मभूमि अमृतसर निवासी ज्योतिषाचार्य पं० श्री गंडाराम के घर चैत्र शुक्ला नवमी के दिन अवतरित हुए। पिता के रूपमें आपने पं० श्री गंडाराम जी को और माता के रूप में भागवन्तीदेवी जी का वरण किया। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का बाल्यकाल का प्रत्येक क्षण चमत्कारों से भरपूर था। श्री प्रभु जी के आविर्भाव से वर्षों पहले अनेकों सिद्ध-महात्मागण उस पावन गृह की प्रदक्षिणा कर जाया करते थे, जहां एक दिन उस अखिल मण्डलाकार ब्रह्माण्ड व्यापी तेज का बाल रूप में आविर्भाव होना था। आविर्भाव के उपरांत भी अनेकों महात्मा एवं सिद्धों ने बाल प्रभु जी की चरण-रज प्राप्त करके अपने को धन्य किया। रात्रि को जब श्री प्रभुजी अपने माता-पिता के साथ शयन करते थे तो श्री प्रभु जी स्पर्शमय से पूज्य पिता पं० श्री गंडाराम जी व पूज्या माता श्रीमती भागवन्ती जी को दिव्य अन्तरानुभूतियां हुआ करती थीं। पड़ोस में ही कर्मगति से दुःखी एक बूढ़ा माई रहती थी, जो सख्त बीमार थी—न प्राण बचते ही थे, न जाते ही थे, विचित्र कष्ट की स्थिति में एक रात्रि को उस वृद्ध माता को स्वप्न हुआ कि तेरे पड़ोस में ही अखिल विश्व का तेज श्री गंडाराम-सुत के रूप में विद्यमान है। बस, फिर क्या था? बूढ़ा माई बाल प्रभु जी के दर्शनों को छटपटाने लगी। प्रातःकाल बूढ़ामाई के घर वाले पूज्या माता भागवन्ती जी के पास गये और बूढ़ामाई की छटपटाहट का वर्णन किया। पूज्या माता भागवन्ती जी बालप्रभु जी को लेकर उनके घर गईं और ज्योंही बूढ़ामाई ने बालप्रभु जी के चरण-कमलों का स्पर्श करके चरण-रज को ग्रहण किया, त्योंही उसके प्राण-पखेरू उड़ कर पूर्ण-ब्रह्म आनन्दकन्द श्री बालप्रभु जी में समा गये। इसी प्रकार अनेकानेक चमत्कारिक लीलायें दिखाते हुए आनन्दकन्द श्री प्रभुजी पन्द्रह वर्ष के हुए और कुरुक्षेत्र एवं कनखल से विद्याध्ययन करते हुए वे काशी पहुँच गये। वहां आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का एक सहपाठी भैरवीचक्र के पूजक वाम-मार्गियों के चक्कर में पड़ गया,

उसे अत्यन्त दुःखित देखकर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने अपनी संकल्प शक्ति से उस भैरवी-चक्र का अन्त करके अपने सखा मित्रको बचा लिया। काशी में आज भी लोग इस बात को कृतज्ञतापूर्वक याद करते हैं कि पंजाब के एक अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण ब्रह्मचारी ने वाम-मार्गियों के भैरवी चक्र का अन्त किया था। श्री प्रभुजी स्वयं सिद्ध होते हुए भी लौकिक लीला हेतु श्री सद्गुरु शरण-प्राप्ति के लिए लालायित रहते थे। जो परम वैराग्य की स्थिति में नेपाल हिमालय के वनों को पार किये और अनेक कष्ट सहते हुए उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ पर छः महीने की समाधि लेने वाले भगवान सदाशिव नेपाल के पर्वत-शृंगों पर ध्यानस्थ रहते हैं। उनका स्वरूप प्रातःकाल बालरूप, मध्याह्नकाल युवारूप और सायंकाल को वृद्ध रूप होता है, जिनकी भौंहें ठोढ़ी को स्पर्श करती हैं और शीश में चन्द्रमा की कला शोभायमान है। ऐसे चन्द्र-मौलि भगवान सदाशिव की शरण में दीन-जनों के दुःखों को हरने वाले आनन्दकन्द श्री प्रभुजी पहुँच गये और फिर घटित हुआ एक अलौकिक चमत्कार—"शंकर की दीक्षा शंकर से"। इस रहस्यमयी लीला का पार जब ऋषि-मुनि नहीं पा सके, तो हम तुच्छ बुद्धियों की तो बात ही क्या है?

इस प्रकार दीक्षाकी लौकिक आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त घोर तपश्चर्या करके आनन्दकन्द श्री प्रभुजी तत्त्व विजयी होकर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी मन में लोक कल्याण का संकल्प करके पुनः इस संसार क्षेत्र में लौटे और बरहन ग्राम (बरहन जंक्शन उत्तर रेलवे) में प्रथम पदार्पण किया। वहाँ एक भागवत् भक्त वैद्य श्री ठाकुरदासजी को कृतार्थ किया। तत्पश्चात् श्री प्रभुजी भ्रमण करते हुए सवाई ग्राम पधारे। वहाँ के परम सत्संगी एवं साधु-सेवी जमींदार श्री प्यारेलाल जी ने आग्रहपूर्वक उन्हें अपनी बगीची में ले गये और अत्यन्त आदरपूर्वक वहीं ठहराया। कालान्तर में यही बगीची "गुरु के बाग" के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसी में श्री प्रभुजी ने जनता जनार्दन के हित के लिए श्री सिद्ध-गुफा का निर्माण कराया और पास के एक तालाब में शक्तिपात करके यह वरदान दिया कि कोई भी रोगी उस तालाब में एक बार स्नान करने मात्र से स्वस्थ हो जाया करेगा। यही "श्री सिद्धगुफा" आज हजारों नर-नारियों के लिए एक महान् तीर्थ-स्थान बन गया है, जहाँ प्रति वर्ष श्रीराम नवमी के पुण्य पर्व पर बड़ा भारी मेला लगता है और योग-सम्मेलन का आयोजन होता है।

योग-साधन में आने वाले विघ्न

आयुर्वेद बृहस्पति वैद्यराज श्री शिवकुमार वैद्य शास्त्री, आगरा

पिछले एक अंक में योगाभ्यास की आठ सीढ़ियों के शीर्षक लेखके अन्त में मैंने आगामी अंकमें योगके विघ्नों का और पूर्ण योगाभ्यासी बन जाने के पश्चात् के कर्त्तव्य-कर्मों के वर्णन करने का अपना विचार व्यक्त किया था। एतदर्थ योग के विघ्नों का वर्णन और उनसे योग जिज्ञासुओं को सचेष्ट (सावधान) रहने का ही इस लेख के द्वारा अति संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। यदि पाठकों को रुचिकर होगा तो 'सिद्धयोग मासिक पत्रिका' में इसके पश्चात् योगाभ्यास में सफल सिद्ध हो जाने के पश्चात् के कर्त्तव्य कर्मों का भी वर्णन करने का प्रयास किया जायेगा।

योगाभ्यासी के समक्ष नौ प्रकार के विघ्नों का बलपूर्वक आना प्रारम्भ हो जाता है जिनके नामों का भगवान पतञ्जलि जी महाराज ने निम्न सूत्र द्वारा वर्णन किया है।

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादा-
लस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि,
चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥
(समाधिपाद ३०)

(१) व्याधि (२) स्त्यान (३) संशय (४) प्रमाद (५) आलस्य (६) अविरति (७) भ्रांति (८) दर्शन (९) अलब्ध-भूमिकत्व (१०) अनवस्थितत्व। ये१० चित्त के विक्षेप। चित्त में अन्धकार (आवरण) उत्पन्न कर देने वाले विघ्न है।

उपर्युक्त विघ्नों के विषय में योग-जिज्ञासु को योग-मार्ग में प्रवेश करने से पूर्व जानकारी हो जाना परमावश्यक होता है, ताकि इन विघ्नों से सावधान रहने तथा रक्षा करने योगाभ्यासी सचेष्ट एवं सक्षम होकर योगाभ्यास में सफल तथा समर्थ हो सके।

व्याधि—

सर्व प्रथम योगाभ्यास का विघ्न, व्याधि (रोग) को माना जाता है, क्योंकि रुग्ण मानव न तो योगाभ्यास में नियमों का समुचित प्रकार से पालन नहीं कर सकता है और न उसके चित्त में ही वह शान्ति हो सकती है जो योगाभ्यास के लिए सर्वथा नितान्त आवश्यक होती है। अतः योगाभ्यास के लिए शरीर निरोग व स्वस्थ होना सर्व प्रथम परम आवश्यक होता है।

शरीर को दूषित करने से वात-पित्त-कफ को जहाँ दोष माना जाता है, वहाँ उपर्युक्त वात-पित्त-कफ विशुद्ध एवं सम होने पर शरीर को धारण करने वाले भी होते हैं। तब उक्त तीनों वात-पित्त-कफ को धातु माना गया है। "शरीर दूषणाद्दोषाः धातवो देह धारणात्" के द्वारा आयुर्वेद शास्त्र में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। अर्थात् वात-पित्त-कफ जब विषम होते हैं तब ये अनेकानेक रोगों को उत्पन्न करके शरीर को दूषित करते रहते हैं। किन्तु जब ये समान रूप से कार्य करने वाले विशुद्ध एवं सम होते हैं तब शरीर को धारण करने से इन्हें धातु कहा जाता है।

दोष विषम होने पर अजीर्ण आदि रोगों की उत्पत्ति और अनिद्रा आदि के द्वारा शरीर में कष्ट एवं अशान्तियां रहीं आती हैं, जिसके कारण शान्तचित्त होकर योगाभ्यास के नियमों का पालन दृढ़ता के साथ लगातार नहीं हो पाता है।

अतः योगाभ्यासी को अपना आहार-विहार (खाना, पीना, सोना, जागना) सन्तुलित और नियमबद्ध रखना आवश्यक होता है। श्रीमद्भगवत गीता में योगिराज श्रीकृष्ण जी महाराज ने भी निम्न श्लोकों द्वारा योगाभ्यासी के लिए ऐसा ही उपदेश किया है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति,
न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य,
जाग्रतोनैव चार्जुन ॥

श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि न तो आहार अधिक खाकर ही योग-क्रिया करना सम्भव हो सकता है और न निराहार रहकर ही योग-क्रिया पूर्ण करना सम्भव हो सकता है।

युक्ताहार विहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा ॥

अतः हे अर्जुन! जो नियमपूर्वक एवं सन्तुलित आहार जो लेता है एवं नियमित विहार का पालन करता है तथा सोना-जागना आदि अन्य सर्व कार्यों का भी विधिपूर्वक ही पालन करता है, वही योग-क्रिया करने में समर्थ एवं सक्षम हो सकता है। अर्थात् वही पूर्ण योगाभ्यासी बनकर अपने और संसार के अन्य प्राणियों के भी दुःखों के निवारण करने में समर्थ हो पाता है।

स्थान—

योग-साधन के प्रारम्भ में अन्य विघ्नों के साथ काम का अर्थात् घोर शीत, घोर ताप और घोर वर्षा आदि ऋतुओं का योग साधन के निमित्त समीप पवित्र एकान्त स्थान आदि

के मिलने की कठिनाइयों आदि अर्थात् देश, काल आदि की विपरीतता के भय से जो योग साधन करने में चित्त में असमर्थता की भावना एवं कल्पना का उत्थान होकर योगाभ्यास में प्रवृत्त होनेमें बाधक बन जाने वाली स्थितियां होती हैं, उन्हें ही योग का द्वितीय विघ्न स्त्यान सम्बोधन किया जाता है।

संशय—

कल्पना विकल्पना के साथ जो मन में विचार आते जाते हैं अर्थात् योग के लाभ एवं गुणों में दृढ़ विश्वासी न होकर योग साधन में श्रद्धा के साथ प्रवृत्त न होने की जो बाधा उत्पन्न हो जाती है उसे ही योग का तीसरा विघ्न संशय सम्बोधन किया जाता है।

प्रमाद—

नियमबद्ध होकर योग साधन में प्रवृत्त न होना अर्थात् निरन्तर नियमित होकर प्रयत्न-शील न होकर प्रमाद (लापरवाही) करना योग साधन का चौथा विघ्न माना जाता है।

आलस्य—

तमोगुण की प्रधानता से अधिक आहार आदि के कारण अथवा आलसी स्वभाव होने से जो योग साधन में बाधा उत्पन्न होती है, उसे योग-साधन का पांचवां विघ्न आलस्य को माना जाता है।

विशेष—प्रमाद और आलस्य में दोनों ही यम-नियम आदि के पालन और योग साधन के प्रयत्न में महा बाधक बन जाते है, अतएव इन दोनों को योग साधन का विघ्न कहा गया है।

विषय—

विषय भोगों की इच्छाओं के बने रहने पर भी योग साधन में सफलता नहीं होती है अर्थात् पूर्ण वैराग्य की भावना हो जाने पर ही योग साधना का सफल होना सम्भव होता है अतएव अवैराग्य भी योग साधना का छठा प्रबल विघ्न माना जाता है।

भ्रान्ति-दर्शन—

सत्शास्त्रों एवं सद्गुरु के विपरीत असत् शास्त्रों और अवगुणी गुरु का सम्पर्क भी योग साधन में बाधक होते हैं। अल्प सिद्धि वाले अर्थात् अर्ध योगियों का जहां सिद्धियों एवं वैराग्य वालों के सम्पर्क से उद्धार हो जाता है, वहां विषयी एवं अवैराग्य वालोंसे सहयोग सम्पर्क से योग-साधन द्वारा प्राप्त किये सर्व फल समाप्त होकर योग साधन के जीवन का पूर्णरूप से पतन हो जाता है। अतः भ्रान्ति-दर्शन को भी योग का सातवां महा विघ्न माना जाता है।

अलब्ध भूमिकत्व—

योग साधना के लिए तप, त्याग एवं भांति-भांति के कठोर परिश्रम करने पर भी

कतिपय योगाभ्यासियों को जब जल्दी सफलता शीघ्र प्राप्त नहीं हो पाती है, तब भी साधक के चित्त में निराशा, असन्तोष, अविश्वास आदि उत्पन्न हो जाते हैं। तब उसे ही अलब्ध-भूमिकत्व कहते हैं। इसे योग का आठवाँ विघ्न माना जाता है। अतः योग-साधन का पूर्ण योगाभ्यासी बन जाने तक श्रद्धा एवं धैर्य के साथ दृढ़ निश्चयी होकर योग-साधन में प्रवृत्त हो जाना भी परमावश्यक होता है।

अनवस्थितत्व —

जब साधक उपर्युक्त आठों विघ्नों का निवारण करके योग प्राप्ति में कुछ कुछ सफलता प्रारम्भ हो जाने पर उस अपूर्ण सफलता को ही पूर्ण मानकर, आगे पूर्ण सफलता के लिए यदि प्रयत्नशील नहीं रहता है अथवा प्राप्त हुई योग की सफलता से परम प्रभु की प्राप्ति के तथा अपनी सद्गति के अतिरिक्त सांसारिक लोगोंको भाँति-भाँति की चमत्कार-पूर्ण लीलाओं को दिखाने में संलग्न हो जाता है, तब भी योग-मार्ग में अधिकाधिक अग्रसर होने का मार्ग बन्द होकर पूर्व की प्राप्त की हुई सिद्धियों का भी पतन होकर योगाभ्यासी भ्रष्ट हो जाता है। अतः योगाभ्यासी को उपर्युक्त सब विघ्नों को दूर करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना आवश्यक होता है, क्योंकि— "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" के अनुसार शुभ कार्यों के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में अनेकानेक विघ्न उपस्थित हो जाते रहते हैं। योगाभ्यासी को किसी भी प्रकार के सांसारिक आकर्षणों में न फँसकर उनसे सर्वथा सचेष्ट और सावधान रहना परमावश्यक होता है। ताकि योग के अन्तिम लक्ष्य समाधिस्थ होकर परम पुरुष में लीन हो जाने एवं उसका साक्षात्कार करने में पूर्ण सफलता प्राप्ति का परम आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

परम कारुणिक परमब्रह्म की अनुकम्पा के द्वारा योग जिज्ञासु की सुबुद्धि स्थिर बने रहने पर ही उपर्युक्त योग के विघ्नों का निवारण होकर योग-सिद्धि में पूर्ण सफलता प्राप्त करना निश्चित रूप से हो पाता है। आगे योग-साधन में सफल हो जाने के पश्चात् कर्तव्य-कर्मों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा।

भक्ति-योग

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम. ए.,

मंत्रे देवे द्विजे तीर्थे,
देवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य,
सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

अर्थात् मन्त्र, देवता, ब्राह्मण, तीर्थ, ज्योतिर्विद, औषधि तथा गुरु के विषय में जिसकी जैसी भावना होती है, उसी प्रकार की उसे सिद्धि मिलती है। काम, क्रोध, लोभ एवं मोह का चश्मा लगाकर घूमने-फिरने से प्राणी सर्वत्र बुराई ही बुराई देखता है। जिस प्रकार मक्खी उसी स्थान पर बैठती है, जहाँ पर घृणा, दुर्गन्ध एवं मलिनता हो, उसी प्रकार दूषित भाव वाले मनुष्यों का स्वभाव ही दोष-दर्शन करना है। पर-उपकार के लिए कमर कसे रहते हैं। पर-छिद्रान्वेषण से ही उनके हृदय की जलन शान्त होती है, दूसरे पर विपत्ति देखकर उन्हें महान सुख प्राप्त होता है। दूसरों का अभ्युदय देखकर अजगर की सी लम्बी साँसें लेते हैं। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवत गीता में कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो,
यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(गीता १७/३)

अर्थात् अपने-अपने स्वभाव (संस्कार-जन्य प्रकृति) के अनुरूप ही सब प्राणियों में सद्भाव एवं श्रद्धा होती है, श्रद्धा ही पुरुष का सत्व निर्माण करती है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, विश्वास है, भाव है, उसके लिए ईश्वर की प्रकल्पना वैसी ही है—

जिनकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

यह श्रद्धा ही लोगों की भिन्न-भिन्न भाव-भूमियों का उदाहरण प्रस्तुत करती है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जनकपुर धनुष-यज्ञ में जब धनुष भङ्ग करने के लिए उद्यत हुए तो प्रतिपक्षी राजाओं ने उन्हें शत्रु के रूप में देखा, भक्तों ने आराध्य देव करुणाकन्द के रूप में देखा, पुरवासियों ने साक्षात् वीर रस ही शरीर रखकर आ गया है, इस भाव से प्रभु के स्वरूप को देखा। यह देखना दो प्रकार से होता है—एक युक्त मन से, दूसरे अयुक्त मन से। अयुक्त मन द्वैत भाव का चश्मा चढ़ा कर बाह्य वस्तु धर्म को दिखाता है और युक्त मन वस्तु के पारदर्शी रूप को प्रस्तुत करता है। भक्त लोग युक्त मन से (सद्भाव से) प्रभु

को अपना दास बना लेते हैं और भावसे वशी-भूत होकर आनन्दकन्द श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ हाँकते हैं और भक्त की माता की तरह रक्षा करते हैं। तुलसीदास अपने प्रभु के असीम रूप, शील, गुण एवं आनन्द-सागर में 'मैं' को डुबो देने की सलाह देते हैं। तभी जीवात्मा एवं परमात्मा का संयोग हो सकता है।

भाव बस्य भगवान सुख निधान करुणा भवन।
तजि ममता मदमान भजिय सदा सीतारमन॥

भाव-योग का स्वरूप :

सांख्य दर्शन के अनुसार दो प्रकार की सृष्टि पुरुष के स्वरूप दर्शन के लिए दृष्टिगोचर होती है— (१) लिंगाख्य (२) भावाख्य। दोनों प्रकार की सृष्टि एक-दूसरे की पूरक है। सांख्य दर्शन में कहा है—

न विना भावैर्लिंगं,
न विना लिंगेन भाव निर्वृत्ति।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्,
द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।

(सांख्यकारिका ५२)

अर्थात् बिना भाव (धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि बुद्धि, सृष्टि) विषयों के लिंग (महत्तत्वादि अतीन्द्रिय पदार्थ) भोग के साधन नहीं रह सकते तथा बिना लिंग पदार्थों के ज्ञान भी नहीं हो सकता, अतः द्विविध है। न भोग से ही आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो सकती है और न केवल ज्ञान से। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है—"तर्काप्रतिष्ठानात्" अर्थात् तर्क ईश्वर-प्रणिधान में अप्रतिष्ठित है। कोई कितना ही बड़े से बड़ा दार्शनिक क्यों न हो, जीव ब्रह्मैक के स्वरूप की अनुभूति नहीं कर सकता, क्योंकि दार्शनिक के निष्कर्ष में कमी रह ही जाती है। जिन प्रमाणों को आधार मानकर वह कल्पना और अनुभूति से विषयावगाहन करने चलता है, वे प्रमाण स्वयं में ससीम हैं, फिर उनसे निस्सीम की अनुभूति कैसे हो सकती है। ज्ञानी उस पुरुष की तरह दुःख पाता रहता है जो माता की अपेक्षा छोड़कर अपनी सामर्थ्य का दम्भ भरता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञान एवं भक्ति को सोने की तराजू में तौल कर सिद्ध किया है बिना भक्ति (ईश्वर प्रणिधान) के ज्ञानी दीन है। अल्पज्ञ मूढ़ भक्त भी वेदज्ञ से बढ़कर है। भगवान श्रीराम नारद से स्वयं अपने मुखारविन्द से कहते हैं—

सुनि मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।
तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भयें तेहि सुत पर माता।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जानहि मोर बल निज बल ताहीं।
दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं।
पाएहुँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥

ज्ञान विज्ञान की तनिक उपलब्धियों से अपने को सृष्टि का स्वामी कहलाने वाला प्राणी प्रकृति की स्थूल सूक्ष्म सृष्टि के विषयों के भोग में फँसकर मकड़ी का सा जाल बुनता रहता है और माया उसके साथ लगी ही रहती है। सभी सुख सामग्री उसकी दुःख-वृद्धि ही करती है। सांख्यकारिका में ऋषि ईश्वर-कृष्ण कहते हैं—

तत्र जरा मरणकृतं दुःखं,
प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्,
दुःख स्वभावेन॥

अर्थात् चेतन पुरुष इन महत्तत्व तन्मात्राओं के संयोग से देह धारण कर जरा मरण का भय प्राप्त करता है। साधन सम्पत्ति के अभाव में महदादि के चक्कर से जीव को छुटकारा नहीं मिल पाता और नाना योनियों में दुःख उसका स्वभाव बन जाता है। अतएव तत्वा-भ्यास से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। निदि-ध्यासन द्वारा मन ही से आत्मा का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। जिसका स्वरूप है—'नास्मि' मैं कर्त्ता नहीं हूँ अर्थात् मेरी आत्मा बुद्धि के कर्त्तव्य धर्म से शून्य है तथा "न मे दुःखादयः धर्माः सन्ति।" अर्थात् मेरे अन्दर दुःखादि धर्म नहीं है तथा 'नाहम्' अर्थात् मेरा कर्तृत्व कहीं भी नहीं है तथा मेरा प्रभुत्व भी नहीं है। मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर, यह भाव ही विशुद्ध ज्ञान है। इस की प्राप्ति का स्वरूप भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने कितने सरल शब्दों में रखा है—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

धर्म का श्रीगणेश सत्संग से होता है। 'सत्संगति मुद मंगल मूला' है। सत्संग से बढ़कर ईश्वर की भक्ति तक पहुँचने का दूसरा उपाय नहीं है, क्योंकि धर्माचरण के मूल में विवेक प्रमुख है तथा 'बिन सत्संग विवेक न होई।' सत्संग से विवेक होता है और विवेक से चित्त शुद्धि होती है। शास्त्रकारों ने कहा भी है—'बुद्धि-र्ज्ञानेन शुध्यति।' अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही बुद्धि शुद्धि होती है तभी "निरमल मन जन सो मोहि पावा" यह कथन चरितार्थ होता है। भक्ति की गंगा में बिना गोता लगाये कुछ हाथ नहीं लगता है। भगवान पतञ्जलि ने जीव की सामर्थ्य तथा पूर्व पूर्व-जन्मों में अर्जित सम्पत्ति को ध्यान में रखकर मानवों के कल्याण के लिए जीवात्मा एवं परमात्मा की कैवल्य-

स्थिति के जिज्ञासुओं को अनेक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। यथा—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा, अभिमतध्यानाद्वा एवं मन्त्रौषधि समाधिजा सिद्धयः।

आदि के द्वारा प्रपत्ति मार्ग, ध्यान योग (राजयोग) आदि का उपदेश दिया है परन्तु प्रपत्ति मार्ग योग का सरल मार्ग है जिसे हर प्राणी सरलता से प्राप्त कर सकता है। भक्ति मार्ग को भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने 'सुगम पन्थ मोहि पावहिं प्राणी' में सरलतम उपाय कहा है। यह भक्ति-योग ही भाव-योग है। सांख्य-दर्शन के अनुसार सांसिद्धिक तथा वैकृतिक भावों से ही जीव तत्त्व ज्ञान के लिए सचेष्ट होता है।

योगी के हृदय में श्रद्धारूपिणी श्री गुरुदेव की मूर्ति जब ध्यान के मूल में प्रतिष्ठित होती है तभी उसका मन "अति आनन्द उमगि अनुरागा" में आप्लावित हो जाता है और ध्यान तथा ध्येय शेष रह जाते हैं, यही अन्ततोगत्वा ध्येय मात्र निःशेष स्थिति में परिणत हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन को श्रद्धारूपी मणि को सम्भाल कर रखने का उपदेश देते हैं—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः
६/१२६

अर्थात् श्रद्धायुक्त होकर जो मुझे भजता है वही मेरा परमप्रिय भक्त है। भक्त योगी ही परम-पद का अधिकारी हो सकता है। भगवान श्रीकृष्ण ने योगी के लिए यत्र-तत्र श्रीमद्भगवद्गीता में "मद्भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव" आदि पदों द्वारा भक्ति-योग का संकेत किया है। श्रद्धाविहीन हठयोग का साधक पुनरागमन से दूर नहीं जा सकता। अतएव भगवान श्रद्धावान को ही ज्ञान का अधिकारी बताते हैं तथा "मन्मनाभवमद्भक्तो" में भी आत्म-समर्पण का ही उपदेश देते हैं।

चित्त की स्थिति तथा भाव की अवस्था—

असद्रूप जड़ एवं अभाव रूप अविद्या का अपर पर्याय यह चित्त जल-तरङ्गों, बुद्बुद, भँवर तथा शीतोष्ण परिणाम की भांति जगत् के मानस में मृग-मरीचिका की तरह भासित होता है। सतोगुण सम्यक् सत्त्वोद्रेक पूर्ण भाव स्थिति है, जिसके उद्रेक से जगत् प्रपंच भासित नहीं होता तथा द्रष्टा आत्म-तत्त्व इस दृश्य से भिन्न है, ऐसा अनुभव करने लगता है। सुख-दुःख, लाभ-हानि में समत्व बुद्धि की प्रतिष्ठा होती है। योग वाशिष्ठ में चित्त और अविद्या समानार्थी बताये गये हैं।

चित्तमेव सकलाडम्बर,
कारिणीमविद्यां विद्धि।
सा विचित्र ऐन्द्र जाल,
यथादिदमुत्पादयति॥

अविद्या चित्त जीव,
बुद्धि शब्दानां ।
भेदो नास्ति वृक्ष,
तरु शब्दयोरिव ॥

२/११६/८

अर्थात् चित्त को ही सारे आडम्बर को उत्पन्न करने वाली अविद्या समझना चाहिए। यही विचित्र इन्द्रजाल-शक्ति द्वारा इस जगत को उत्पन्न करती है। वृक्ष और तरु की भांति अविद्या, चित्त, जीव और बुद्धि आदि में कोई भेद नहीं है। इष्टदेव श्री गुरुदेव का ध्यान करने से चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है तथा जिस प्रकार जलाशय में जल के शान्त एवं निर्मल होने पर उसमें दर्पणभाव प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार चित्तवृत्ति के विकार—काम, क्रोध, लोभ और मोह पूर्व तत्त्व की भावना करते-करते तद्रूप एवं तन्मय हो जाता है। तब दर्पण-भाव प्राप्त हुआ मन ब्रह्म-भाव से युक्त होता है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए भक्ति-योग आवश्यक है। भक्ति-युक्त के लिए ही महात्मा तुलसीदास जी ने संत की संज्ञा दी है :—

संत हृदय जस निरमल बारी।
बांधे घाट मनोहर चारी॥

तथा—

निरमल मन सो कहें सो पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

वृत्ति अभाव रूप पदार्थ है, जिसकी सत्ता नहीं तथा भाव सत्तावान है, जो साधक को सिद्धि अवस्था तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है। भगवान कृष्ण ने सूत्ररूप में इस रहस्य को

'नासतेविद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः'

अर्थात् जो मिथ्या है उसकी सत्ता नहीं हो सकती और जिसकी सत्ता है उसी का भाव होगा, इन शब्दों में प्रकट किया है। भाव-रूपा सत्ता स्वप्न एवं जड़ता से भिन्न चिन्मय अवस्था है, जिसकी प्राप्ति का सरल रूप भगवान श्रीराम ने अपने अधिकारी भ्राता लक्ष्मण को इस प्रकार समझाया है—

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना।
ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलम्ब न आना।
तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

भक्ति-योग का प्रथम सोपान धर्माचरण है। मनुष्य का धर्म 'मनुष्यत्व' है। जिन गुणों से मनुष्य, मनुष्य बना रह सकता है, वे सभी आचार-विचार, रीति-रिवाज धर्म के आधार-भूत अंग हैं। शास्त्रोक्त वर्णाश्रम मर्यादा-पालन के पीछे भी यही तत्त्व है। धर्म से वैराग्य (विवेक बुद्धि) आती है तथा प्राणी

योग का अधिकारी हो पाता है, जिसके प्रतिफल स्वरूप साधक "ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थोऽविजितेन्द्रिय।" अर्थात् ज्ञान-विज्ञान से अपनी पिपासा शान्त कर पर्वत की भांति एकत्व अभेद बुद्धि से संयतेन्द्रिय होकर मोक्ष का वरण करता है। धर्म बुद्धि के लिए भक्ति-योग का अभ्यास आवश्यक है, जिसका स्वरूप भगवान श्रीराम ने अपने मुखारविन्द से इस प्रकार कहा है :—

भगति कि साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती।
निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि विषय विरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।
मम लीलारति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥

भक्ति-योग का तभी उदय समझना चाहिए जब प्रिय के स्मरण मात्र से दृग छलकने लगें, रोम-रोम पुलकित हो उठे तथा हृदय में— "अति आनन्द उमग अनुरागा" के कारण 'मन बुधि चित अहमिति बिसराई।' तथा—

मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

यह स्थिति हो जो कि रामचरितमानस के सभी पात्र भक्ति के पारावार में निमग्न हैं। आप किसी भी पात्र को देखिये 'काम आदि दम्भ' से विहीन निष्कपट हृदय प्रेम पूरित एवं

साँवर रूप सुधा भरिबे कहँ,
नयन कमल कल-कलश रितौरी।

(गीतावली) को साथ लिये हुए 'एक भरोसो एक बल' का अडिग विश्वास लिये—

मेरे प्रभु तुम गुरु-पितु माता।
जाऊँ कहाँ तजि पद जलजाता॥

की दीनता से युक्त जन्म-जन्मान्तर में भी श्रीराम की अविरल अचल भक्ति के याचक सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

भक्ति-योगिनी शबरी—

भगवान राम ने शबरी के आश्रम में पदार्पण किया। अधम नारी के भाग्य खुल गये। प्रेम-विह्वल शबरी पूर्व-जन्म के पुण्यों का स्मरण कर अपने-आपको धन्य मानती है। अपने पतित पावन, करुणासिन्धु का स्वागत करना चाहती है पर हृदय के भाव शब्दों को पीछे धक्का देकर आगे बढ़कर आँसुओं की भाषा में स्वागत करने को बेचैन है। भावों से बढ़कर कौनसी भाषा हो सकती है। आँसुओं से बढ़कर कौनसी अभिव्यक्ति हो सकती है। शबरी के पास शास्त्र-ज्ञान का शब्द कोष कहाँ था। सरल हृदय, हृदय की निरीहता, दीनता अनन्य भक्ति यही उसकी पूँजी थी, इसी से प्रभु को खरीदना चाहती थी। अर्घ्य, पाद्य,

आचमन आदि कराके अपने प्रभु को उसने कन्दमूल फल सद्भाव से भेंट किये। प्रेम-सहित प्रभु ने उनको खाया। खाते क्यों न? उनकी ही तो यह कुराई है :—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं,
यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम-
श्नामि प्रयतात्मनः॥

अर्थात् जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल आदि श्रद्धापूर्वक अर्पण करता है, उसे मैं भक्ति-भाव से ही ग्रहण करता हूँ।

अपने सम्मुख अपने आराध्य को नयन-गोचर देखकर प्रेम पुलकित शबरी हाथ जोड़ कर स्तुति करने के खड़ी हो गई। पर स्तुति की योग्यता उसमें कहाँ थी? शास्त्र ज्ञान से शून्य! भाषा ज्ञान से अनभिज्ञ!! नारी जाति में भी अत्यन्त अधम भील कुल की मतिमन्द नारी!!! पर दीनानाथ अपने भक्त में दैन्य कब देख सकते हैं। प्रभु तो अपने भक्त को परम ऐश्वर्य सम्पन्न करके ही छोड़ते हैं। शबरी को आश्वासन दिलाते हुए कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगतिहीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

भगवान श्रीराम ने 'श्रवनादिक नवभक्ति' का संकेत मात्र लक्ष्मण जी से किया था। उसे कृपा कर भक्ति-योगिनी को संसार कल्याणार्थ इस प्रकार कहते हैं। नवधा भक्ति भक्ति-योग के नौ सोपान हैं जो योग के आठ अंगों के सरलीकृत रूप हैं। मानस की नवधा-भक्ति श्रीमद्भागवत की ही भक्ति है, जिसके बिना योग अपूर्ण है। तर्क और वितण्डा से किसी को कुछ हाथ नहीं लगा। किसी के होकर ही कुछ मिल पाता है। किसी के होने के लिए अपने हृदयमें दर्द चाहिए और हृदय खोलकर दर्द प्रिय को दिखाइये। मस्त-मौला भक्त कबीर ने बड़े सहज ढंग से यह रहस्य इस दोहे में कह दिया है :—

हँस-हँस कंत न पाइये,
जिन पाया तिन रोय। × ×

तथा—

कबिरा हँसना बन्द करि,
रोने से करि प्रीति। × ×

रोने से—

कोमल चित्त प्रभु दीन दयाला।
कारण बिनु रघुनाथ कृपाला॥

वश में हो जाते हैं। छल के आँसू लगाकर रोने से काम नहीं चलने का। विषयोंसे वैराग्य होने पर ही सात्विक भाव से हृदय द्रवित होगा तथा अश्रुधारा अविरल बहने लगेगी। तभी समझिये भक्ति की बधाइयाँ प्रारम्भ

हुई है। भक्ति-योग के सोपानों को नवधा-भक्ति के नौ प्रकारों में स्पष्ट कर दिया गया है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथा यम-नियम आदि सभी इसके अन्दर समाविष्ट हैं। मानस में यथायुक्त पात्र को ही नवधा-भक्ति का उपदेश किया गया है। संक्षेप में नवधा-भक्ति इस प्रकार है :—

१— प्रथम भगति संतन्ह करि संगा।
— दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
३— गुरु पद पंकज सेवा,
तीसरि भगति अमान।
४— चौथी भगति मम, गुन, गन,
करइ कपट तजि गान।
५— मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
६— छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धरमा॥
७— सातवं सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
८— आठवं जथा लाभ सन्तोषा।
सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥
९— नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

सद्योग में सत्संग, स्वाध्याय, कीर्तन, श्रीगुरुदेव के उपदेश श्रवण, मन्त्र-जप, समत्व-भावना, सन्तोष, सत्य तथा प्रपत्ति भाव में साधन प्रत्येक प्राणी के लिए सुलभ है।

श्रीमद्भगवतगीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने १२वें अध्याय में ध्यान योगी को ही श्रेष्ठ भक्त कहा है। जो यह भाव बना लेता है—"मैंने अपना सब कुछ सौंप दिया भगवान तुम्हारे हाथों में।" वही भक्त ईश्वर का अत्यन्त प्रिय है। देखिये—

संतुष्टः सततं योगी,
यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो,
मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२/१४)

अर्थात् जो हर प्रकार से सन्तुष्ट, जितेन्द्रिय है, ध्यान योग में निरन्तर लगा रहता है तथा ईश्वर में दृढ़ विश्वास है और मन, बुद्धि को मेरे अर्पण कर देता है, वही भक्त मुझे प्रिय है। जैसे एक स्थान तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग होते हैं, पर सभी मार्ग सभी लोगों द्वारा गम्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार उस परमपद तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति,
केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन,
कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता १३/२४)

अर्थात् कुछ लोग ध्यान योग द्वारा हृदय-कमल में उस परम-पुरुष को देखते हैं। अन्य कितने ही ज्ञान योगके द्वारा और दूसरे निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। इनसे भी भिन्न जो मन्द बुद्धि हैं वे जो सद्गुरुदेव के उपदेशों पर श्रद्धा एवं विश्वास के साथ साधन करते हैं वे पुरुष भी भक्ति योग द्वारा परमपद के अधिकारी हो सकते हैं।

योग से ही कैवल्य लाभ

● स्व० श्री रामसुमेर उपाध्याय, कछवा, मिर्जापुर

कैवल्य—

पांच प्रकार की मुक्तियों में एक प्रकार की मुक्ति है। इन पांचों प्रकार की मुक्तियों का नाम तथा गुण बतलाते हैं : –

(१) सालोक्य - भगवान के समान लोक प्राप्ति।

(२) सार्ष्टि—भगवान के समान ऐश्वर्य प्राप्ति।

(३) सामीप्य—भगवान के समीप स्थान प्राप्ति।

(४) सारूप्य—भगवान के समान स्वरूप

(५) सायुज्य—भगवान में लय प्राप्ति (इसी को कैवल्य प्राप्ति भी कहते हैं)।

मुक्ति, अपवर्ग और मोक्ष ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं यानी छुटकारा पाना। किससे छुटकारा पाना यह समझ लेना चाहिए।

मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति,
न ग्रामान्तर मेवत्रा।
अज्ञान हृदय ग्रन्थिनाशो,
मोक्ष इति स्मृतः॥

अर्थात् मोक्ष कोई कैलाश, बैकुण्ठ की तरह लोक नहीं है। केवल हृदय की अज्ञानता रूप गांठ का छूट जाना ही मोक्ष कहलाता है। इसी प्रकार अनेक वचन हैं जैसे शिवोग-वाशिष्ठे :—

न मोक्षो नभसः पृष्ठे,
न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षयेचेतः,
क्षयोमोक्ष इतीर्यते॥

अर्थात् मोक्ष न तो आकाश के पृष्ठ में है न पाताल में, न भूतल में वह तो सर्व संशय के नाश का जो चेतन ज्ञान उसका जो लय, वहां है वही मोक्ष है। शिव गीतायां—

यस्तु शान्त्यादियुक्तः,
सम्यगात्मन्येव पश्यति।
स जायते परं ज्योतिर-
द्वैतं ब्रह्म केवलम्॥
आत्मस्वरूपा व स्थानं,
मुक्तिरित्यभिधीयते।

अर्थात् जो शान्ति (शम, दम) आदि से

युक्त होता हुआ आत्म शुद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् समस्त जगतको अपने समान देखता है, वह वहाँ से मुक्ति-स्वरूप ब्रह्म तथा अनन्त प्रकाश-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है। अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति का स्वरूप कहा गया है।

न्याय सूत्र—

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञाना-नामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

अर्थात् दुःख-जन्मादि दोष-मिथ्या, ज्ञानादि का उत्तरोत्तर जो अभाव है उस अपवर्ग कहते हैं।

निरालंबोपनि—

नित्याऽनित्य विचारादनित्य संसार सुख-दुःख विषय समस्त क्षेत्र ममताबन्ध-क्षयो मोक्षः।

अर्थात् सब प्रकार से ममता का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। कैवल्य मुक्तिको योंही सरलता से समझनेके लिए विचार करें तो यह भी ज्ञात होगा कि मुक्ति खासतौर पर यह भी है कि आत्यन्तिक दुःख के संयोग का सर्वथा के लिए वियोग हो जाना ही मुक्ति है। इसी आत्यन्तिक दुःख को दूर करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने योग-दर्शन में दस प्रकार वर्णन किये हैं—

"हेयं दुःखमनागतम्"

(साधन-पाद २/१६)

अर्थात् जो आया नहीं है, आने वाला है, वह दुःख, हेय (नाश करने योग्य) है। भावार्थ यह है कि पूर्वकाल में जो अनेक योनियों में दुःख भोगे जा चुके हैं, वे तो अपने आप समाप्त हो गये, उनके विषय में अब कोई विचार करना नहीं है और जो वर्तमान हैं, वे भी भोग देकर दूसरे क्षण में अपने-आप समाप्त हो जायेंगे, उनके लिए भी उपाय की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो दुःख अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं, भविष्य में होने वाले हैं, उनका नाश उपाय द्वारा करना अवश्य कर्त्तव्य है, इसलिये उन्हीं को 'हेय' बतलाया गया है।

जिसका नाश करना हो उसके मूल कारण को जानने की आवश्यकता है, क्योंकि मूल कारण के नाश से ही उसका पूर्णतया नाश हो सकता है नहीं तो वह पुनः उत्पन्न हो सकता है। अतः उक्त 'हेय' का कारण क्या है उसे बतलाते हैं।

"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः"

(योग-दर्शन २/१७)

अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का, संयोग (उक्त) हेय का कारण है।

भाव यह है कि ऊपर जो नाश करने योग्य आने वाले दुःख बतलाये गये हैं, उनका मूल कारण द्रष्टा और दृश्य का अर्थात् पुरुष और प्रकृति का संयोग यानी जड़-चेतन की

ग्रन्थि है। अतः इस संयोग का नाश कर देने से मनुष्य सर्वथा दुःखोंसे निवृत्त हो सकता है।

इस सूत्र में द्रष्टा, दृश्य और उनका संयोग इन तीनों के नाम आये हैं, उनमें से पहले दृश्य का स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन बतलाते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

(योग-दर्शन २/१८)

अर्थात् प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रियां जिसका (प्रकट) स्वरूप है, (पुरुष के लिए) भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा दृश्य है। अर्थात् सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण और इनका कार्य जो कुछ भी देखने, सुनने और समझने में आता है वह सब दृश्य के अन्तर्गत है। सत्त्व-गुण का मुख्य धर्म, प्रकाश, रजोगुण का क्रिया (हलचल) और तमोगुण का स्थिति यानी जड़ता है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं, यह सांख्य का मत है। अतः सब अवस्थाओं में अनुगत तीनों गुणों का जो प्रकाश, क्रिया और स्थितिरूप स्वभाव है, वही दृश्य का स्वभाव है। पांच स्थूल, पांच तन्मात्रा, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये सब (तेईस तत्त्व) प्रकृति के कार्य होने से उसके स्वरूप हैं। भोगासक्त पुरुष को अपना स्वरूप दिखला कर भोग प्रदान करना तथा मुक्ति चाहने वाले योगी को द्रष्टा का स्वरूप दिखलाकर मुक्ति प्रदान करना दृश्य का प्रयोजन है। द्रष्टा को उसका निज स्वरूप दिखा देने के पश्चात् इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उस पुरुष के लिए यह अस्त (लुप्त) हो जाता है। अब द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः

(योग-दर्शन २/२०)

अर्थात् चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा) द्रष्टा यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध (निर्विकार) है, तो भी (बुद्धि के सम्बन्ध से) बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखने वाला है। भाव यह है कि एक चेतन मात्र ही जिसका स्वरूप है, ऐसा यह द्रष्टा पुरुष (आत्म-स्वरूप) सर्वथा शुद्ध निर्विकार, कूटस्थ और असङ्ग है तो भी बुद्धि के सम्बन्ध से बुद्धि-वृत्ति के अनुरूप देखने वाला होने से 'द्रष्टा' कहलाता है और इसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ अनादि-सिद्ध अविद्या से माना जाता है। जब तक उस अविद्या के नाश द्वारा यह प्रकृति से अलग होकर अपने असली स्वरूप में स्थित नहीं हो जाता, तब तक बुद्धि के साथ एकता को प्राप्त हुआ-सा बुद्धि की वृत्तियों को देखता है और जब तक उनको देखता है, तभी तक इसकी द्रष्टा संज्ञा है। दृश्य का सम्बन्ध न रहने पर द्रष्टा किसका ? फिर तो यह एक (कैवल्य) चेतन मात्र, सर्वथा शुद्ध और निर्विकार है ही।

दृश्य के स्वरूप की सार्थकता क्या है ? इसे कहते हैं—

"तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा"

(योग-दर्शन २/२१)

अर्थात् (उक्त) दृश्य का स्वरूप, उस (द्रष्टा) के लिए ही है। सारांश यह है कि उक्त द्रष्टा को अपने दर्शन द्वारा भोग प्रदान करने के लिए और द्रष्टा के निज स्वरूप का दर्शन कराकर अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करने के लिए इस प्रकार पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ही दृश्य है। इसी में उसके होने की सार्थकता है और पुरुष को अपवर्ग प्रदान कर देने के पश्चात् प्रकृति का कोई कार्य शेष नहीं रहता, फिर उसका बना रहना व्यर्थ है, अतः उसका अभाव हो जाना चाहिए। इस पर कहते हैं—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्य नष्टं,
तदन्य साधारणत्वात् ।

(योग दर्शन २/२२)

अर्थात् जिसका भोग और अपवर्ग रूप कार्य पूर्ण कर दिया, उस पुरुष के लिए नाश को प्राप्त हुई, भी (वह प्रकृति), नष्ट नहीं होती, क्योंकि दूसरों के लिए भी वह समान है। भाव यह है कि प्रकृति का प्रयोजन किसी एक ही पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग प्रदान करना नहीं है, वह तो सभी पुरुषों के लिए उसकी आवश्यकता न रहने के कारण यद्यपि वह उसके लिए नष्ट हो जाती है, तो भी दूसरे सब जीवों को भोग और अपवर्ग प्रदान करना तो शेष है ही। इसलिये उसका सर्वथा नाश नहीं होता, वह (प्रकृति) विद्यमान रहती है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि प्रकृति परिणामी होने पर भी अनादि और नित्य है। अब संयोग के स्वरूप का वर्णन करते हैं इसे भी समझ लेना चाहिए।

स्वस्वामि शक्त्योः स्वरूपो-
पलब्धि हेतुः संयोगः ।

(योग दर्शन २/२३)

अर्थात् स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष) इन दोनों के, स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण है वह संयोग है। सारांश यह है कि पूर्व यह बात कही गयी है कि दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के लिए ही है। अतः उसी भाव को लेकर यहाँ पुरुष को प्रकृति का स्वामी बतलाया है और प्रकृति को पुरुष का 'स्व' अर्थात् अपना यानी अधिकृत पदार्थ कहा है। उस प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध उन दोनों के स्वरूप को जानने के लिए ही है। अतः उस दर्शन (ज्ञान) शक्ति से जब तक मनुष्य प्रकृति के नाना रूपों को देखता रहता है, तब तक तो भोगोंको भोगता रहता है और इनके दर्शन से विरक्त होकर अपने स्वरूप-दर्शन की ओर देखता है, तब स्वरूप का

दर्शन हो जाता है। फिर संयोग की कोई आवश्यकता न रहने से उसका अभाव हो जाता है। यही पुरुष की 'कैवल्य' अवस्था। अब यहां उक्त संयोग का कारण क्या है? बतलाते हैं।

"तस्यहेतुरविद्या"

(योग-दर्शन २/ ४)

अर्थात् उस संयोग का कारण, अविद्या है। अर्थात् सर्वथा निर्विकार, असंग, चेतन-पुरुष का जो यह जड़ प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। अनादि सिद्धि अविद्या से हो है, वास्तव में नहीं है। इसीलिये अपने स्वरूप के ज्ञान से इसका नाश हो जाता है और इसके बाद प्रयोजन न रहने पर वह ज्ञान भी शान्त हो जाता है। यही पुरुष का 'कैवल्य' है।

अब कारण सहित संयोग के अभाव से सिद्ध होने वाले सर्वथा दुःखों का नाश रूप 'हान' का वर्णन करते हैं।

तदभावात्संयोगा भावो,हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

(योग-दर्शन २/२५)

अर्थात् उस (अविद्या) के अभाव से, संयोग का अभाव (हो जाता है, यही) 'हान' (पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव) है और वही चेतन आत्मा का 'कैवल्य' है।

सारांश यह है कि आत्म-दर्शन रूप ज्ञान से अज्ञान का (यानी अविद्या का) सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अज्ञान-जनित संयोग का भी अपने आप अभाव हो जाता है। फिर पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और उसके सम्पूर्ण प्रकार के आत्यन्तिक दुःखों का सदा के लिए अत्यन्त अभाव हो जाता है और तब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में सदा के लिए स्थित हो जाता है। यही उसका कैवल्य अर्थात् सर्वथा अकेलापन है। अब उपरोक्त दुःखों के अत्यन्त अभाव रूप 'हान' का उपाय बतलाते हैं।

विवेक ख्यातिरविप्लवा हानोपायः

(योग-दर्शन २/२६)

अर्थात् निश्चल और निर्दोष, विवेक-ज्ञान (उक्त) 'हान' का उपाय है। सारांश यह है कि प्रकृति तथा उसके कार्य, बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रियां और शरीर इन सबके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने से तथा आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न और असङ्ग है। आत्मा का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार पुरुष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने से जो प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का अलग-अलग यथार्थ ज्ञान होता है, इसी का नाम 'विवेक ज्ञान' है। उस समय चित्त के विवेक ज्ञान में निमग्न और कैवल्य के अभिमुख रहता है। यह ज्ञान जब समाधि की निर्मलता होने पर पूर्ण और

निश्चल हो जाता है। उसमें किसी प्रकार का भी मल नहीं रहता, तब वह अविप्लव विवेक ज्ञान कहलाता है और ऐसा विवेक ज्ञान ही समस्त दुःखों के अत्यन्त अभाव रूप 'हान' का तथा मुक्ति का उपाय है।

उक्त विवेक ज्ञान की विशेषता का वर्णन करते हैं।

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयम्, क्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

(योग-दर्शन ३/५४)

अर्थात् जो संसार समुद्र से तारने वाला है सबको जानने वाला है, सब प्रकार से जानने वाला है और बिना क्रमके (पूर्वापर के) जानने वाला है वह विवेक-जनित ज्ञान है, थोड़ेमें सार भाव यह है कि यह ज्ञान पर-वैराग्यको उत्पन्न करके योगी की कैवल्य अवस्था का सम्पादन करने में हेतु है, इसलिये इसको तारक अर्थात् संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला कहा है। इसके द्वारा योगी समस्त वस्तुओं को सब प्रकार से जान सकता है। इस कारण यह 'सर्वविषयम्' और 'सर्वथा विषयम्' कहलाता है। इसके द्वारा योगी हरेक वस्तु को बिना क्रम के एक साथ जान सकता है, इस कारण इसको 'अक्रमम्' भी कहते हैं। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था है, इससे ऊँची कोई स्थिति नहीं है। 'अक्रमम्' का यह भी भाव समझना चाहिए कि यह क्रम से रहित है, अर्थात् दूसरे ज्ञानों की भांति परिवर्तनशील नहीं है। उक्त निर्मल विवेक ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं।

योगाङ्गानुष्ठानाद् शुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिरा विवेकख्यातेः।

(योग-दर्शन २/२८)

अर्थात् योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अर्थात् उनको आचरण में लाने से जब चित्त के मल का बिल्कुल अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है, उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक हो जाता है अर्थात् उसे आत्माका स्वरूप बुद्धि, अहङ्कार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।

थोड़े में विशेष वक्तव्य यह है कि पुरुष क्रमशः क्लेशों और सकाम कर्मों द्वारा (अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष, इन दोनों से अभिनिवेश क्लेश उससे सकाम कर्म, सकाम कर्मों की वासनाओं से जन्म, आयु, भोग और उनमें सकाम कर्मों के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख सुख) बहिर्मुख होकर नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है। इन दुःखों की निवृत्ति के लिए उक्त क्रमानुसार

अन्तर्मुख होने का सरल उपाय अष्टांग योग है। यहां तक के लेख से पाठक महाशयों की समझ में यह बात आ जानी चाहिए कि अष्टांग योग से विवेक ज्ञान की प्राप्ति और विवेक ज्ञान से कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। अब विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद जिसका विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है। उस पर कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा,
विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

(योग-दर्शन ४/२९)

अर्थात् जिस योगी का विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जब विवेक ज्ञान उदय होता है तब, योगी के चित्त में अत्यन्त स्वच्छता आ जाती है। अतः उसमें विलक्षण शक्ति आ जाती है, उस समय योगी सर्वज्ञ हो जाता है। ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जो योगी उस सामर्थ्य का उपभोग नहीं करता, सर्वज्ञता रूप ऐश्वर्य में आसक्त नहीं होता, उससे सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसके विवेक ज्ञान में किसी प्रकार का अन्तराय (विघ्न) नहीं पड़ सकता। वह निरन्तर उदित (प्रकाशमान) रहता है, इसलिए तत्काल ही उस योगी को धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

"ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः"

(योग-दर्शन ४/३०)

अर्थात् उस (धर्ममेघ समाधि) से क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है। सारांश यह है कि उक्त प्रकार से जब योगी की धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उस योगी के अविद्यादि पांचों क्लेशों तथा शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित ऐसे तीनों प्रकार के कर्म संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः वह योगी जीवन्मुक्त कहलाता है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

'जो नित्य अपने गुरुजनों एवं वृद्ध व्यक्तियोंकी सेवामें तत्पर रहता है तथा उनको प्रणाम करता है, उसकी चार वस्तुओं की वृद्धि होती है, आयु, विद्या, यश तथा बल।'

किसी भी व्यक्ति को आयु, विद्या, यश तथा बल—ये वस्तुयें किसी भी मूल्य पर मिलना सम्भव नहीं है, परन्तु हमारे ऋषि-मुनियों ने इन दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करने का यह बड़ा ही सरल साधन बतला दिया है। गुरुजनोंकी सेवा एवं उन्हें प्रणाम करने से तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करने से दुर्लभ वस्तुयें भी सुलभ हो जाती हैं।

साधना में श्रद्धा

ब्र० श्री जगदीशनारायण शर्मा, कछवा

श्रद्धा साधना रूपी शरीर का एक आवश्यक अङ्ग है। जिस तरह से शरीर में भिन्न-भिन्न अंगों का होना अत्यन्त आवश्यक है, उसी प्रकार साधना रूपी शरीर में जब तक मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो जाती श्रद्धा रूपी अंग का होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा विहीन साधना अपंग मनुष्य के समान है। जिस तरह से अपंग मनुष्य रेंग-रेंग कर अपनी मञ्जिल तय करता है उसी प्रकार श्रद्धा-विहीन साधना रेंग-रेंग कर अपनी मञ्जिल तय करती है। योगाचार्य महर्षि पतंजलि जी महाराज ने भी समाधि-पाद के २०वें सूत्र में इस भाव की पुष्टि की है।

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

(समाधि-पाद २०)

विदेह और प्रकृति लयों से भिन्न योगियों की असम्प्रज्ञात-समाधि श्रद्धा आदि पूर्वक होती है। श्रद्धा आदि क्रम से उपाय हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि उपेय। इसलिये इनका उपायोपेय सम्बन्ध है।

मानसिक दृष्टि से यदि हम विचार करें, तो मनुष्य का अचेतन मन अपनी आत्मा का साक्षात्कार अनेक प्रकार की गुप्त चेष्टाओं के द्वारा करता है। इस प्रकार की चेष्टाओं में एक चेष्टा आत्मारोपण अथवा आत्मीकरण की चेष्टा है। प्रत्येक मनुष्य की चेष्टा उसके स्वभाव के अनुसार होती है, यही उसका सत्व है। इसी के अनुसार वह अपने मित्रों को, गुरुओं को, देवी-देवताओं को चुनता है, उनका ध्यान करता है और उन पर श्रद्धा-भक्ति प्रकाशित करता है। जब ध्यान बहुत अधिक बढ़ जाता है तब ध्याता और ध्येय में एकत्व स्थापित हो जाता है। यह एक सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व बन जाता है। इस भाव की पुष्टि योगेश्वर श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता के सत्रहवें अध्याय के ३ श्लोक से होती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता १७/३)

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा

वाला है वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है।

अतः इन सब बातों से सिद्ध होता है कि साधना में प्रथम आवश्यकता है दृढ़ श्रद्धा की। जहां दृढ़ श्रद्धा है वहां साधना खूब तत्परता से बढ़ती है। इस भाव की पुष्टि योगेश्वर श्रीकृष्ण के कहे हुए गीता के चौथे अध्याय के ३९वें श्लोक से होती है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं,
तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां,
शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४/३९)

हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

इसके विपरीत जहां श्रद्धा नहीं है, वहां साधना में तल्लीनता नहीं आती, तब तक साधना में कोई फल प्रत्यक्षरूप नहीं दीखता। इस भावा की पुष्टि योगेश्वर श्रीकृष्ण के कहे हुए चौथे अध्याय ४०वें श्लोक से होती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च,
संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो,
न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४/४०)

हे अर्जुन ! भगवत विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा-रहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, उनमें भी संशय युक्त पुरुष के लिए तो न सुख है और न यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रद्धा की महत्ता का वर्णन प्रायः सभी ग्रन्थों ने किया है। पूज्य गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के प्रथम सोपान में वन्दना के प्रथम सोपान में श्रद्धा की जितनी विशद् व्याख्या की है, उतना मिलना कठिन है। जो देखने पर सारे रामचरितमानस का सार है।

भवानीशङ्करौ वन्दे,
श्रद्धा विश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति,
सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥

(रामचरितमानस २)

श्रद्धा और विश्वास स्वरूप श्री पार्वतीजी और श्री शङ्कर जी को मैं वन्दना करता हूँ, जिनके बिना सिद्धजन अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते।

महर्षि वेदव्यास जी ने तो पद्मपुराण के भूमि खण्ड में श्रद्धा की महत्ता का वर्णन करते हुए यहाँ तक लिख दिया कि जिसके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं, ऐसे अनेक मुनि केवल श्रद्धा के बल पर दिव्य लोक को प्राप्त हुए।

आसक्ति

ले० स्व० श्री हृषीकेश चतुर्वेदी साहित्याचार्य

नवजात शिशु का रुदन स्वभावतः ही सांसारिक कष्टों के दुःसह अनुभव का सूचक है। प्रारम्भिक काल से कुछ आगे चलकर 'समझ' आने पर बालक निसर्ग (स्वभाव) से ही दुःखानुभव के अतिरिक्त सुख का भी अनुभव करने लगता है (खिलौने आदि से वह प्रसन्न होता है)। सुखकर वस्तु में आसक्ति होने का जन्म-समय भी यही है। इस 'समझ' की अवस्था के पीछे उसे सोचने की शक्ति प्राप्त होती है। 'समझ' की अवस्था तक बालक वर्तमान से ही सम्बन्धित रहता है, किन्तु सोचने की शक्ति प्राप्त होने पर उसे तीनों कालों से परिचय आप ही आप हो जाता है। सोचने की शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रारम्भ में क्षेत्र बहुत ही संकुचित होता है, किन्तु आगे वह निरन्तर विस्तृत होता जाता है। सोचने में भी मनुष्य वे ही उपाय सोचता है, जिनसे सुख प्राप्त हो और दुःखों से बचता रहे [यहां

(पिछले पृष्ठ का शेष)

श्रद्धा धर्मसुता देवी,
पावनी विश्वभाविनी।
सावित्री प्रसवित्री च,
संसारार्णव तारिणी॥

श्रद्धया ध्यायते धर्मो,
विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः।
निष्किंचनास्तु मुनयः,
श्रद्धावन्तोदिवं गताः॥

(पद्म० भूमि० ९४/४४-४६)

श्रद्धा देवी धर्म की पुत्री है, वे विश्व को पवित्र एवं अभ्युदयशील बनाने वाली हैं। इतना ही नहीं, वे सावित्री के समान पावन, जगत को उत्पन्न करने वाली तथा संसार-से उद्धार करने वाली हैं। जिनके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, ऐसे अकिंचन मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही दिव्य-लोक को प्राप्त हुए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साधना में श्रद्धा की प्रथम आवश्यकता है। उसके साथ-साथ असीम धैर्य और पूर्ण उत्साह भी होना चाहिए। अतएव जो साधक अपनी साधना को पूर्ण करना चाहता है, उसे गुरु में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिए तथा धैर्य और उत्साह अन्त तक बनाये रखना चाहिए। इसके सिवा सिद्धि के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उदार मनुष्य अपने क्षेत्र को इतना विस्तृत कर लेता है कि समस्त संसार के कल्याण को वह अपना ही कल्याण समझने लगता है।

जब मनुष्य मृत्यु के विषय में सोचता है, तो संसार को अधिक से अधिक जीवन भर सुख पहुंचा सकने के ही साधन रूप में पाता है [वास्तव में संसार से जीवन-पर्यन्त सुख किसीको नहीं मिलता] अतः अपनी अल्प घड़ियां भी सुख से पूरी करने के लिए उसे सोचने के क्षेत्र को आगे बढ़ाना पड़ता है। बस, ब्रह्म विषयक जिज्ञासा की उत्पत्ति यहीं से होती है।

× × ×

आसक्ति ही दुःख का कारण है, किन्तु वह हमसे घनिष्ठ नैसर्गिक सम्बन्ध रखने के कारण छोड़ी जाने में अत्यंत दुष्कर है। हम जिस वस्तु को भी आज अपना लें, उसे हम अन्त समय में अवश्य ही परवश छोड़कर चल देंगे। यह असह्य वियोग ही मरणासन्न व्यक्ति को अधजले अथवा घायल की भांति तड़पाती है। जिन लोगों में आसक्ति रोग रूप में घर बैठती है, उनको आसक्ति का 'पात्र' यदि उनसे किसी भी प्रकार उनके जीवन में ही उन्हें छोड़कर (परवश या स्ववश) वियुक्त होता है, तो उनकी वह अवस्था मरणासन्न व्यक्ति की अवस्था से भी गिरी हुई हो जाती है, जिसे अच्छे से अच्छा कवि भी पूर्णतया चित्रित नहीं कर सकता। आसक्ति वियोग की जननी होकर हमें हमारे जीवन में अनेक बार कष्ट देकर भी विश्राम नहीं लेती, वरन् हमारी मरणासन्न अवस्था में तो हमें जल-वियुक्त मछली की भांति ही तड़पाती है। आसक्ति संयोग की भी जननी है, किन्तु इस रूप में भी वह हमें परे-शान ही करती है, क्योंकि हम निरन्तर इसी सोच में मग्न रहते हैं कि कैसे और किस वस्तु से हम संयोग करके सुख प्राप्त करें। पुनश्च, कभी-कभी तो इसी बावलेपन में हम वे कार्य कर बैठते हैं जो सर्वथा अकरणीय ही होते हैं। वास्तव में आसक्ति कामना की जननी है। संयोग प्राप्त होने से सुख तथा वियोग से दुःख मिलता है। संयोग जीवनकाल में ही सुख दे सकता है, मरणासन्न अवस्था देखकर वह किनारा कर जाता है। वियोग मनुष्य को जीवन-काल में भी दुःख देता रहता है, तथा मरणासन्न अवस्था में तो वह उसे अवर्णनीय अपार एवं अगाध दुःख सागर में डुबोता एवं उछालता है। बिना आसक्ति के कामना नहीं। बिना कामना के संयोग है, न वियोग। आसक्ति का त्याग दुःख सम्भव है, असम्भव नहीं, अतः बुद्धिमान मनुष्य को आसक्ति त्याग का उपाय अवश्य सोचना एवं करना चाहिए।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥

इच्छा की जड़ सङ्कल्प है, यज्ञ सङ्कल्पों से उत्पन्न होते हैं और व्रत, यम और धर्म—ये सब सङ्कल्प से ही उत्पन्न कहे गये हैं।

× × ×

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

इस संसार में बिना इच्छा किसी मनुष्य का कोई काम कभी नहीं दीखता। जो कुछ वह करता है सब इच्छा से करता है।

× × ×

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

सम्पूर्ण वेद (मनु आदि), वेद के जानने वालों की स्मृति और उनका शील, साधु पुरुषों का आचरण और अपने मन का सन्तोष—ये धर्म के मूल हैं।

× × ×

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

वेद और स्मृति में कहे हुए धर्म में स्थित हुआ मनुष्य इस संसार में कीर्ति पाता है और मरकर परम उत्तम सुख पाता है।

× × ×

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

स्वाध्याय (नित्य-पाठ) से, व्रतों से, हवनों से, वेदत्रयी के ज्ञान से, देवपूजन से, पुत्रों से, महायज्ञ और यज्ञों से यह शरीर पाने के योग्य बनाया जा सकता है।

—मनुस्मृति

दुःख से बचना है तो अन्तर्मुखी बनो

प्राकृतिक विधान बताता है कि मनुष्य को दुःख की निवृत्ति और शत्रु से रहित अवस्था तथा सबकी सहानुभूति केवल अन्तर्मुख हो जाने से ही सकती है। मानवता का आदि और अन्त यही है। अपितु मध्य की एक अवस्था भी ऐसे किसी दिन आती है। आदि में माताके गर्भ में बच्चा अन्तर्मुख होता है। अतः सब प्रकार के विकारों से पवित्र और सुरक्षित होता है। अन्त में जब मृत्यु के समय अन्तर्मुखी हो जाता है, तब भी उसे कोई शारीरिक रोग नहीं होता, चाहे वह पहले विषम रोगी भी हो और उसे कोई शत्रु नहीं दीखता, अपितु शत्रु उसके लिए पश्चात्ताप करता है और अन्य लोगों को भी उससे संवेदना होती है। मध्य में सुषुप्ति निद्रामें भी कोई शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक दुःख तथा शत्रु से शत्रुता नहीं होती।

—प्रभु आश्रित

Sidhayoga

Regd No. L. [illegible]

योग के सिद्धान्त और क्रियाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक, सम्पादक तथा संरक्षक:
योगिराज [illegible] श्री [illegible]जी महाराज

प्राणवाद और प्राणायाम

प्राणवाद एक काल्पनिक वाद मात्र नहीं है। इसका विज्ञान जानकर प्राण-संयम करने से स्वरूपोपलब्धि होती है, इसलिए उपनिषदों, तन्त्रों, पुराणों एवं योगदर्शन में मनोनिग्रहार्थ प्राणायाम को एक मुख्य साधन स्वीकार किया गया है। गीता में भी प्राणायाम की गणना यज्ञ में की गई है—'अपाने जुह्वति प्राणं ——।'

योग-दर्शन की उक्ति के अनुसार 'ततः' अर्थात् प्राणायाम से 'क्षीयते प्रकाशावरणम्' प्रकाश के आवरणों का क्षय होता है। उपनिषदों में तो प्राणोपासना का स्थान सबसे ऊँचा दिखाया गया।

प्राण-विज्ञान का विद्वान पञ्च भौतिक देहस्थ तत्त्वों को नियमित करने का सामर्थ्य प्राप्त करके भूतजय सिद्धि पा सकता है। स्थूल देह से लिंग शरीर को पृथक करके विदेह सिद्धि और इन्द्रियों पर जय प्राप्त करके मनोजवत्व इत्यादि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, जब प्राण मूर्धा में चढ़कर [illegible] होकर लीन होने लगता है, तब मनुष्य 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' अर्थात् बुद्धि और आत्मा [illegible] [illegible] प्राप्त करके आत्मानुभूति की सर्वोच्च सिद्धि भी पा सकता है।

—स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी

मुद्रक—[illegible] शर्मा 'निरंजन' [illegible] प्रिंटिंग प्रेस, [illegible]